ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—स्वराड्बृहती [क], ब्राह्म्युष्णिक् [ख]।
स्वरः—मध्यमः [क], ऋषभः [ख]॥

प्रभु की प्रेरणा का स्वरूप

॥ ओ३म् ॥ [क] इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं [ख] प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशꣳसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ १॥

जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि मैं **त्वा**=आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ, **इषे**=प्रेरणा प्राप्त करने के लिए (इष प्रेरणे, Impel, urge, incite, animate), न केवल प्रेरणा प्राप्त करने के लिए, अपितु **त्वा**=आपके चरणों में आया हूँ **ऊर्जे**=शक्ति और उत्साह के लिए। आप मुझे उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए, उस प्रेरित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शक्ति दीजिए और शक्ति के साथ उत्साह भी दीजिए कि मैं उस लक्ष्य तक पहुँचने में कभी ढीला न पड़ जाऊँ। 'प्रेरणा, शक्ति व उत्साह'—तीनों से युक्त जीवन ही तो वास्तविक जीवन है। हे प्रभो! मुझे तो आप बस, यही जीवन प्राप्त करने के योग्य कीजिए।

इस उपासक जीव को प्रभु प्रेरणा देना आरम्भ करते हैं और कहते हैं कि—

१. **वायवः स्थ**=(वा गतौ) हे जीवो! तुम गतिशील हो—अकर्मण्यता तुम्हें छू भी नहीं गई। 'आत्मा' शब्द का अर्थ ही सतत गतिशील है। अकर्मण्यता यदि जीर्ण और शीर्ण कर देती है तो क्रियाशीलता विकास व प्रादुर्भाव का कारण बनती है। वस्तुतः क्रियाशीलता ही जीवन है।

२. **सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु**=बस, तुम कुछ ऐसी अनुकूलता पैदा करो कि सुप्रेरक विद्वान् तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म में प्रेरित करें। (प्रार्थनायां लोट्)।

३. **आप्यायध्वम्**=इस प्रकार तुम दिन प्रतिदिन बढ़ो। बढ़ने का मार्ग यही है कि मनुष्य क्रियाशील हो और फिर वह क्रियाशीलता श्रेष्ठतम कर्मों की ओर झुकाववाली हो।

४. **अघ्न्याः** (अ+हन्+य)=तुम हिंसा न करनेवालों में उत्तम बनना। तुम्हारा प्रत्येक कार्य ऐसा हो जो निर्माण व हित के उद्देश्य से चल रहा हो, किसी भी कार्य में ध्वंस व विनाश न हो।

५. **इन्द्राय भागम्**=तुम परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के लिए सेवनीय अंशों को ही अपनानेवाले बनो (भज सेवायाम्)। तुममें प्रकृति का आधिक्य न होकर प्रभु का आधिक्य हो, अर्थात् प्रेय के पीछे न मरकर तुम श्रेय को अपनानेवाले बनो। अपने जीवनों को ऐसा

बनाकर तुम–

६. **प्रजावतीः**=उत्तम सन्तानवाले बनो। तुम्हारे जीवन में यह एक महती असफलता होगी यदि तुम्हारी सन्तान ठीक न हुई।

७. **अनमीवाः**=इस जीवनयात्रा में ऐसे ढंग से चलना कि तुम रोगाक्रान्त न हो जाओ। तुम्हारा यह शरीररूप रथ टूट न जाए। ऐसा हुआ तो यात्रा कैसे पूरी होगी? पाँचवें संकेत 'इन्द्राय भागम्' का ध्यान करोगे तो नीरोग रहोगे ही। प्रभुभक्त अस्वस्थ नहीं होता, प्रकृति में आसक्त ही रोगी हुआ करता है।

८. **अयक्ष्माः**=तुम्हें यक्ष्मा न घेर ले, तुम इस राजरोग के चक्कर में न आ जाओ। प्रकृति का ठीक प्रयोग करने से रोग आएँगे ही क्यों?

९. **मा वः स्तेनः ईशत**=स्तेन तुम्हारा ईश न बन जाए। बिना श्रम के धन-प्राप्ति की इच्छा ही 'स्तेन' है। यह Horse races, lotteries, crossword puzzles, तथा विविध प्रकार के सट्टों (speculations) के रूप में प्रकट होती है। इससे सदा दूर रहना। यह मनुष्य को कामचोर बनाकर आरामपसन्द बना देती है और इस प्रकार बीमारियों व व्यसनों की शिकार कर देती है।

१०. **मा अघशंसः** (ईशत)=पाप को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाला कोई व्यक्ति तुम्हारे विचारों पर शासन करनेवाला न बन जाए।

११. **ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात**=इस गोपति में तुम ध्रुव होकर रहना। 'गावः इन्द्रियाणि'–गौवें इन्द्रियाँ हैं, इनका रक्षक प्रभु है। गौ का अर्थ वेदवाणी करें तो उन वेदवाणियों का पति प्रभु है ही। इस प्रभु में तुम ध्रुव होकर रहना। जो प्रभु से दूर हुआ वही इस द्वन्द्वात्मक जगत् (दुनिया) की चक्की के दो पाटों में आकर पिस गया। प्रभु ही विश्वचक्र के केन्द्र की कीली हैं–उन्हीं में तू स्थिरता से निवास करना।

१२. **बह्वीः**=बहुत होना। संसार में आत्मकेन्द्रित-सा होकर स्वार्थरत व्यक्ति न बन जाना। अधिक-से-अधिक प्राणियों से अपना तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना, औरों से 'अयुत' होना। **'एकोऽहं बहु स्याम'** मैं एक से बहुत हो जाऊँ, इस बात का ध्यान रखना, औरों के दुःख को भी अनुभव करना।

१३. और अन्त में **यजमानस्य**=इस सृष्टि-यज्ञ को चलानेवाले मुझ प्रभु के **पशून्** (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)=काम-क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=बड़ा सुरक्षित रखना। ग्लुकोज़ को बड़ी सावधानी से रखने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु आर्सनिक को तो अलमारी में बन्द रखना आवश्यक है ही। चिड़ियाघर में मृग को बहुत बन्धन में रखना आवश्यक नहीं होता, परन्तु शेर को दृढ़ पिंजरे में रखना कितना आवश्यक है? इसी प्रकार इन काम-क्रोध को भी रखना तो है, परन्तु पूर्ण नियमन में। प्रार्थना भी तो 'नियंसत्' है, न कि 'नष्ट कर दे' यह है। काम संसार का मूल है–प्रजननात्मक काम पवित्र है, आवश्यक है, परन्तु यही अनियन्त्रित होकर शक्ति का विनाश करके क्षयकारक हो जाता है। क्रोध भी आवश्यक है, परन्तु स्वयं अनियन्त्रित होने पर अनर्थों का मूल हो जाता है।

जीव ने प्रभु से 'प्रेरणा' देने की याचना की थी–प्रभु ने इन तेरह वाक्यों में जीव को प्रेरणा दी है। ये तेरह वाक्य ही **'सत्याकारास्त्रयोदश'**–सत्य के तेरह स्वरूप हैं। इस प्रेरणा को अपनानेवाला जीव उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता हुआ एक दिन 'परमेष्ठी'–परम

स्थान में स्थित होता है। यह प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति कहलता है। इस प्रकार यह इस मन्त्र का ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापतिः' होता है।

भावार्थ—जीव प्रभु से प्रेरणा माँगता है। प्रभु उसे तेरह वाक्यों में बड़ी सुन्दर प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा को अपनाने से ही जीव 'परमेष्ठी' बन सकता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञिय-जीवन

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाऽअसि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥ २॥

शतपथ (१। ७। १। ९, १४) में **'यज्ञो वै वसुः'** इन शब्दों में वसु का अर्थ यज्ञ किया है। 'वासयति' इस व्युत्पत्ति से यह ठीक भी है, क्योंकि यज्ञ ही बसाता है। यज्ञ के अभाव में नाश-ही-नाश है। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'** यज्ञहीन का न यह लोक है, न परलोक। इस यज्ञ के द्वारा मनुष्य के जीवन का सुन्दर निर्माण होता है, अतः प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

१. **वसोः**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तू पवित्र-ही-पवित्र बना है। हमारे जीवनों में जितना-जितना यज्ञ का अंश आता जाता है, उतना-उतना ही हमारा जीवन पवित्र बनता जाता है। यज्ञ परार्थ व परोपकार है। वह पुण्य के लिए होता है। अयज्ञ स्वार्थ है, परापकार है, परपीड़न है और पाप का कारण है। २. इस यज्ञ से ही तू **द्यौः असि**=प्रकाशमय जीवनवाला है। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान-सूर्य से चमकता है। यज्ञ में प्रथम स्थान देवपूजा का है। यह देवपूजा तेरे मस्तिष्क को अधिक और अधिक ज्योतिर्मय करती चलती है। ३. **पृथिवी असि**='प्रथ विस्तारे', इस यज्ञ से तू अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला है। यज्ञमय जीवन विलासमय जीवन का प्रतिरूप=उलटा है, अतः यह शक्तियों के विस्तार का कारण बनता है। ४. **मातरिश्वनः घर्मः असि**=इस यज्ञमय जीवन के कारण ही तू वायु=प्राण की उष्णतावाला है, अर्थात् तेरी प्राणशक्ति की वृद्धि हुई है। ५. इस बढ़ी हुई शक्ति से ही तू **विश्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला बनता है। तेरी शक्ति सदा औरों के रक्षण का कारण बनती है। ६. यह औरों की रक्षा करनेवाली शक्ति ही तो उत्कृष्ट शक्ति है। निकृष्ट तेज औरों का नाश करता है, मध्यम तेज अपने ही धारण में विनियुक्त होता है, परन्तु उत्कृष्ट तेज सभी के धारण का कारण बनता है। इस **परमेण धाम्ना**=उत्कृष्ट तेज से **दृंहस्व**=तू अपने को दृढ़ बना और सबका धारण करता हुआ 'विश्वधा' बन।

७. **मा ह्वाः**=अपने जीवन में तू कभी कुटिल गतिवाला मत बन, सदा सरल मार्ग को अपनानेवाला बन। यज्ञ के साथ कुटिलता का सम्बन्ध है ही नहीं। ८. **ते**=तेरे विषय में **यज्ञपतिः**=इस सृष्टि-यज्ञ का रक्षक प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=कठोर नीति का अवलम्बन न करे। प्रभु ने कहा और तूने किया। प्रभु के इस 'साम'—शान्त उपदेश को तू सदा सुन। तेरे विषय में प्रभु को 'दान, भेद व दण्ड' के प्रयोग की आवश्यकता ही न हो। आर्जव=सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके ही यह 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होगा और यज्ञ की भावना को अपनानेवाला 'प्रजापति' बनेगा।

भावार्थ—यज्ञ से मैं पवित्र, ज्योतिर्मय, विकसित शक्तियोंवाला, प्राणशक्ति से पूर्ण और लोकहित करनेवाला बनूँ। अपने को शक्तियों से दृढ़ बनाऊँ, कुटिल नीति को अपनाकर

कभी दण्ड का भागी न बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः॥

पवित्रता

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः॥ ३॥

१. वही प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं—**वसोः**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। यहाँ 'शतधारम्' शब्द क्रियाविशेषण के रूप में है। 'शतं धारा यस्मिन्', (धारा इति वाङ्नाम)। जिस यज्ञ द्वारा पवित्रीकरण की क्रिया में शतशः वेदवाणियों का उच्चारण किया गया है। सैकड़ों ही क्या **सहस्रधारम्**=सहस्रों वेदवाणियों का उच्चारण हुआ है। ऐसी **वसोः**=यज्ञ की प्रक्रिया से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। वैदिक संस्कृति में मनुष्य यज्ञमय जीवन बिताता है। इस यज्ञमय जीवन की प्रेरणा उसे शतशः, सहस्रशः उच्चारण की गई वेदवाणियों से प्राप्त होती है, जिन्हें वह अपने इस यज्ञिय-जीवन में समय-समय पर प्रयुक्त करता है।

२. (क) **सविता देवः**=सबको प्रेरणा देनेवाला, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **पुनातु**=पवित्र करे। जो मनुष्य प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होता है उसका जीवन पवित्र बनता ही है। उपासना के समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ नहीं है। (ख) **सविता देवः**=उदय होकर सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला प्रकाशमय सूर्य **त्वा पुनातु**=तुझे पवित्र करे। रोगकृमियों के संहार द्वारा सूर्य पवित्रता और नीरोगता प्रदान करता है।

३. **वसोः**=यज्ञ से **पवित्रेण**=अपने को पवित्र बनानेवाले **शतधारेण**=शतशः वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के साथ, अर्थात् उसके सम्पर्क में आने के द्वारा **सुप्वा**=तू अपने को उत्तम प्रकार से (सु) पवित्र करनेवाला (पू) हुआ है। मनुष्य यज्ञशील, ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क से उन-जैसा ही बनता हुआ अपने उत्थान को सिद्ध करता है। सत्सङ्ग—**'पापान्निवारयति योजयते हिताय'** पाप से हटाकर हित में जोड़ता है। वेद में कहा है—हे प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि—**'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** हमारे सभी जन सत्सङ्ग से उत्तम मनोंवाले हों। एवं, पवित्र बनने के तीन उपाय हैं—१. यज्ञमय जीवन बिताना, यज्ञों में लगे रहना, २. प्रभु की उपासना करना, ३. यज्ञशील ज्ञानियों के सम्पर्क में रहना। इन उपायों को क्रिया में लानेवाले व्यक्ति से प्रभु कहते हैं कि वस्तुतः **काम्**=उस अवर्णनीय आनन्द देनेवाली वेदवाणी को तो तूने ही **अधुक्षः**=दूहा है। इसका दोहन करने के कारण यह अपने जीवन में ऊँचा उठता हुआ 'परमेष्ठी' बना है। यह यज्ञशील बनकर सभी का पालन करने से 'प्रजापति' है।

भावार्थ—हम यज्ञ, उपासना व सत्सङ्ग से अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वेदवाणी

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳसोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳरक्ष॥ ४॥

१. जिस वेदवाणी के दोहन का पिछले मन्त्र में वर्णन है **सा**=वह वेदवाणी

विश्वायुः='विश्वम् आयुः यस्याः'=सम्पूर्ण जीवन का वर्णन करनेवाली है, जीवन के किसी भी पहलू को उसमें छोड़ा नहीं गया। ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के कर्त्तव्यों का इस वाणी में उल्लेख है, पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, आचार्य-शिष्य, ग्राहक-दुकानदार, राजा-प्रजा सभी के कर्त्तव्यों का वर्णन वहाँ मिलता है। २. **सा विश्वकर्मा**=यह वेदवाणी सभी के कर्मों का वर्णन करती है। अधिकारों पर यह बल नहीं देती। वस्तुतः जीवन को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पर बल दे और अधिकार की चर्चा न करे। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि-'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता)। तुम्हारा अधिकार कर्म का ही है, फल का नहीं।

३. इस कर्तव्यभावना को जागरित करने के लिए **सा विश्वधायाः**=यह वेदवाणी सम्पूर्ण ज्ञान-दुग्ध को पिलानेवाली है (विश्व+धेट् पाने)। इसमें सब सत्यविद्याओं का ज्ञान दिया गया है। यह व्यापक ज्ञान देनेवाली है। वेदवाणी का नाम 'गौ' भी है, ज्ञान इसका दूध है। अपने ज्ञान-दुग्ध से यह सबका पालन व धारण करती है। वेदवाणी का वर्णन करके प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रस्य भागम् त्वा**=परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के ही अंश=छोटेरूप तुझे **सोमेन**=सोम के द्वारा **आतनच्मि**=(तंच्) टंच बना देता हूँ-बिल्कुल ठीक-ठाक कर देता हूँ। आहार का अन्तिम सार ही यह वीर्य है। इसके द्वारा प्रभु हमारे शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। सोमरक्षा से हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न नहीं होता। सोमरूप ज्ञानाग्नि के ईंधन को पाकर हमारा मस्तिष्क दीप्त हो उठता है। एवं, सोम से मनुष्य का शरीर, मन व मस्तिष्क सभी कुछ ठीक-ठीक हो जाता है।

४. उल्लिखित त्रिविध उन्नति करनेवाला यह त्रिविक्रम 'विष्णु' बनता है। इस विष्णु से प्रभु कहते हैं कि **हे विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा यज्ञ की रक्षा करना, अपने जीवन से कभी यज्ञ को विलुप्त न होने देना। **'पुरुषो वाव यज्ञः'** पुरुष है ही यज्ञरूप। यज्ञ से ही तू उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना कर पाएगा।

भावार्थ-वेदवाणी सम्पूर्ण जीवन का विचार करती है, कर्मों पर बल देती है, ज्ञान-दुग्ध का पान कराती है। सोम से हम पूर्ण स्वस्थ बनकर प्रभु के ही छोटे रूप बनते हैं। व्यापक उन्नति करते हुए हम हव्य की रक्षा करें, अर्थात् हमारा जीवन सदा यज्ञमय हो।

ऋषिः-परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

अनृत से सत्य की ओर

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ ५॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का वर्णन करते हुए कहा था कि वह हमारे सभी कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है। प्रस्तुत मन्त्र में उन सब कर्त्तव्यों के अन्दर ओत-प्रोत एक सूत्र का वर्णन करते हैं कि हमारे सब कर्म 'सत्य' पर आश्रित हों, इसलिए प्रार्थना करते हैं-**अग्ने**=हे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=सब व्रतों के रक्षक प्रभो! **व्रतम् चरिष्यामि**=मैं भी व्रत धारण करूँगा। **तत् शकेयम्**=उस व्रत का मैं पालन कर सकूँ, **तत् मे राध्यताम्**=मेरा वह व्रत सिद्ध हो। **अहम्**=मैं **अनृतात्**=अनृत को छोड़कर **इदम्**=इस **सत्यम्** [सत्सु तायते]=सज्जनों में विस्तृत होनेवाले सत्य को **उपैमि**=समीपता से प्राप्त होता हूँ।

२. व्रत का स्वरूप संक्षेप में यह है कि–'अनृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना'।

३. प्रभु व्रतपति हैं। हमें इस सत्य-व्रत का पालन करना है। प्रभु का उपासन हमें शक्ति देगा और हम अपने व्रत का पालन कर सकेंगे। सत्य से उत्तरोत्तर तेज बढ़ता है तो अनृत से उत्तरोत्तर तेज क्षीण होता जाता है।

भावार्थ–प्रत्येक मनुष्य को सत्य का व्रत लेना चाहिए। उसका पालन करने से ही वह देवत्व को प्राप्त करता है और प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**–प्रजापतिः। **छन्दः**–आर्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**–पञ्चमः॥

आदेशक कौन?

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ ६॥

गत मन्त्र में सत्य के व्रत लेने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभु ही सदा सत्य बोलने की प्रेरणा दे रहे हैं। १. **कः**=वे सुखस्वरूप प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य बोलने के लिए प्रेरित करते हैं, क्योंकि सत्य ही मानव जीवन को स्वर्गमय बनाता है। **सः**=वे सदा से प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=इस सत्य के लिए प्रेरित कर रहे हैं। २. **कस्मै**=सुख-प्रप्ति के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=कर्मों में व्यापृत करते हैं, **तस्मै**=उस उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति के लिए वे **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य में प्रेरित करते हैं। सत्य से 'प्रेय व श्रेय' दोनों की ही साधना होती है। वैशेषिक दर्शन के शब्दों में सत्य ही 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध करता है, अतः सत्य ही धर्म है।

३. **वाम्**=हे पति व पत्नी! आप दोनों को वे प्रभु **कर्मणे**=कर्म के लिए प्रेरित कर रहे हैं। निरन्तर कर्म में लगे रहना ही 'सत्य' है, आलस्य व अकर्मण्यता 'असत्य' है। आत्मा का अर्थ 'अत सातत्यगमने'=निरन्तर गमन है। क्रिया ही आत्मा का अध्यात्म व स्वभाव है। क्रिया गई और आत्मत्व नष्ट हुआ।

४. **वेषाय**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्याप्ति के लिए, व्यापक बनने के लिए, उदार मनोवृत्ति को धारण करने के लिए वे प्रभु **वाम्**=आपको प्ररेणा देते हैं। संकुचित मनोवृत्ति में असत्य का समावेश हो जाता है, विशालता में ही पवित्रता व सत्य की स्थिति है।

एवं, मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कहा है कि (क) सुखस्वरूप, सदा से प्रसिद्ध, स्वयम्भू, सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य ही प्रेरणा दे रहे हैं तथा (ख) वे प्रभु सत्य की प्रेरणा इस लोक को सुखमय बनाने तथा परलोक को सिद्ध करने के लिए दे रहे हैं। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा है कि इस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए क्रियाशीलता व उदारता को अपनाना आवश्यक है।

भावार्थ–(क) प्रभु सत्य की प्रेरणा दे रहे हैं (ख) इसी से दोनों लोकों का कल्याण सिद्ध होता है, (ग) सत्य की प्रतिष्ठा के लिए हम क्रियाशील व उदार बनें।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**–यज्ञः। **छन्दः**–प्राजापत्याजगती। **स्वरः**–निषादः॥

रक्षो-दहन

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ ७॥

उपासक प्रभु से प्रार्थना करता है—१. **रक्षः**=मेरे न चाहते हुए भी मुझमें घुस आनेवाली ये राक्षस वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=(प्रति+उष् दाहे) एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। 'रक्षः=र+क्ष'=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाली भावनाएँ मुझमें उत्पन्न ही न हों। मैं अपने आनन्द के लिए औरों की हानि करनेवाला न होऊँ। २. **अरातयः**=(रा दाने) न देने की वृत्तियाँ **प्रत्युष्टाः**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। मैं सब-कुछ अपने भोग-विलास में ही व्यय न कर दूँ। मैं सदा त्यागपूर्वक भोगवाला बनूँ, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होऊँ, लोकहित के लिए देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। ३. **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निष्टप्तम्**=निश्चय से तप के द्वारा दूर कर दी जाएँ और इसी प्रकार **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ **निष्टप्ता**=निश्चय से तप के द्वारा दग्ध हो जाएँ। तपस्या से जीवन की भूमि यज्ञ व दान के लिए अत्यन्त उर्वरा हो जाती है। भोग ही समाप्त हो गया तो औरों के क्षय का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ४. यह तपोमय जीवनवाला व्यक्ति निश्चय करता है कि **उरु**=विशाल **अन्तरिक्षम्**=हृदयाकाश को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। मेरी कोई भी क्रिया संकुचित हृदयता से नहीं होती। वस्तुतः विशालता ही हृदय को पवित्र रखती है और उस हृदय में भोगवाद की अपवित्र भावनाएँ जन्म नहीं ले-पातीं। हृदय की विशालता से हम देव बनते हैं न कि राक्षस।

भावार्थ—मेरी राक्षसी वृत्तियाँ दूर हों। मेरी अदान की वृत्तियाँ नष्ट हों। तपोमय जीवन के द्वारा मैं इन्हें दग्ध कर दूँ और विशाल-हृदय बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

हिंसकों का संहार

धूर॑सि॒ धूर्व॑ धूर्व॒न्तं॑ धूर्व॒ तं यो॒ऽस्मान् धूर्व॑ति॒ तं धूर्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः।
दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तमꣳसस्नि॒तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं देव॒हूत॑मम्॥ ८॥

१. **धूः असि**=हे प्रभो! वस्तुतः आप ही सब राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं, **धूर्वन्तम्**=हमारा संहार करनेवाली इन राक्षसी वृत्तियों का आप **धूर्व**=हिंसन करें। **यः**=जो अदान की वृत्ति भोगासक्त करके **अस्मान्**=हमें **धूर्वति**=हिंसित करती है **तम् धूर्व**=उसे आप समाप्त कर दीजिए। **यम्**=जिस राक्षसी व अदान की वृत्ति को **वयं धूर्वामः**=हम हिंसित करने का प्रयत्न करते हैं **तम् धूर्व**=उसे आप हिंसित कीजिए, ये वृत्तियाँ तो हमारी हिंसा पर तुली हुई हैं। आपकी कृपा से ही हम इन्हें पराजित करके अपनी रक्षा कर सकेंगे। भोगवाद की समाप्ति ही दिव्य जीवन का आरम्भ करती है।

२. हे प्रभो! आप ही **देवानाम्**=सब दिव्य गुणों के **वह्नितमम्**=सर्वाधिक प्राप्त करानेवाले हैं। अन्य मन्त्र में स्पष्ट कहा है—**'यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्'**=प्रभु-कृपा से ही मनुष्य उग्र, उदात्त (noble), ज्ञानी, तत्त्वद्रष्टा=(ऋषि) व सुबुद्धि बना करता है। ३. **सस्नितमम्**=(ष्णा शौचे) आप हमारे जीवनों को अधिक-से-अधिक शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। आपके चरणों में उपस्थित होने पर सब मलिनताएँ दग्ध हो जाती हैं। आपके उपासना-जल में हमारा जीवन धुल-सा जाता है। ४. **पप्रितमम्**=(प्रा पूरणे), हमारे जीवन-क्षेत्र को शुद्ध करके आप उसे दिव्य गुणों के बीजों से भर देते हैं। यहाँ दिव्य गुणों के अंकुर उपजते हैं और हमारा क्षेत्र दैवीसम्पत्तिरूपी शस्य से परिपूर्ण हो जाता है।

५. **जुष्टतमम्**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) हे प्रभो! आप समझदार व्यक्तियों से प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हो। **देवहूतमम्**=देवताओं से अधिक-से-अधिक पुकारे जाते हो। देव तो

देव बन ही इसीलिए पाते हैं कि वे आपका उपासन करते हैं। आपके उपासन से उनके अन्दर घुसे हुए 'काम' का दहन हो जाता है। इस कामरूप वृत्र (ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले) के विनाश से उन उपासकों का हृदय ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है और इस ज्ञान-दीपन से वे देव (देवो दीपनात्) बन जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम नाशक वृत्तियों का ध्वंस करके अपने को सुरक्षित कर सकें। आपकी कृपा से ही हमारा हृदय दैवी वृत्तियोंवाला बन पाएगा। आपका उपासन ही हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पाँच का नियमन

अहृतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्तां पञ्च॥ ९॥

प्रभु उपासक को प्रेरणा देते हैं कि—१. **अहृतम् असि**=तू कुटिलता से रहित है। **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्'**—सब प्रकार की कुटिलता मृत्यु का मार्ग है, सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। यहाँ **'अहृतम्'** आदि पदों में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि ये बातें 'पति-पत्नी' दोनों के लिए हैं। केवल पति के लिए निर्देश होने पर पुल्लिङ्ग का प्रयोग मिलता है, केवल पत्नी के लिए निर्देश होने पर स्त्रीलिङ्ग होगा, सामान्य निर्देश में नपुंसक दिखेगा। २. **हविर्धानम्**=तू हवि का आधान करनेवाला है, यज्ञशील है। यज्ञ करके बचे हुए हव्य पदार्थों का ही तू सेवन करनेवाला है! तू सदा यज्ञशेष='अमृत' का ही ग्रहण करता है। ३. **दृंहस्व**=इस अमृत-सेवन से तू दृढ़ बन। पवित्र भोजन तुझे दृढ़ शरीरवाला ही नहीं, दृढ़ मनवाला भी बनाएगा। ४. **मा ह्वार्षीत्**=तू कभी कुटिलता न कर। ५. **ते**=तेरे विषय में **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक वह प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=प्रेरणारूप सरल उपाय को छोड़कर अन्य उपाय का अवलम्बन न करे। 'साम' को असफलता में ही 'दान-भेद-दण्ड' आवश्यक हुआ करते हैं।

६. **विष्णुः**=तेरे हृदय में स्थित सर्वव्यापक प्रभु **त्वा क्रमताम्**=तुझे सञ्चालित करे। वस्तुतः हृद्देश में स्थित हुआ-हुआ प्रभु ही सबका सञ्चालन कर रहा है। ७. **उरु वाताय**=(वा गतिगन्धनयोः) तेरा जीवन विशाल क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों के गन्धन=हिंसन के लिए हो। ८. **रक्षः अपहतम्**=सब राक्षसी वृत्तियाँ नष्ट कर दी जाएँ, और ९. **पञ्च**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचों प्राण **यच्छन्ताम्**=वश में किये जाएँ। वस्तुतः प्राण-निरोध इन्द्रियों के मलों का दहन करके उन्हें पवित्र व दीप्त करनेवाला होता है। इस प्रकार प्राण-निरोध इन्द्रिय-निरोध का साधन हो जाता है।

भावार्थ—हम कुटिलता से दूर हों। इसके लिए प्राण-निरोध द्वारा इन्द्रिय-नैर्मल्य को सिद्ध करें और हमारा जीवन अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा से सञ्चालित हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु की प्रेरणा में

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि॥ १०॥

यह संसार सर्वज्ञ एवं दयालु प्रभु का बनाया हुआ है, अतः न तो यहाँ अपूर्णता है और न ही कोई वस्तु हमारे लिए दुःखद है, परन्तु जब अल्पज्ञता व व्यसनासक्ति से हम वस्तुओं का ठीक प्रयोग नहीं करते तब ये वस्तुएँ हमारे लिए दुःखद हो जाती हैं, इसलिए प्रभु-भक्त निश्चय करता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे—संसार के प्रत्येक पदार्थ को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में, अर्थात् मैं प्रत्येक पदार्थ का सेवन प्रभु के निर्देशानुसार करता हूँ। प्रभु का आदेश है—'न अतियोग करना, न अयोग करना, प्रत्येक वस्तु का 'यथायोग' करना। गीता के शब्दों में 'युक्त आहार-विहारवाला होना'—सदा मध्यमार्ग में चलना। २. **अश्विनोः**=प्राणापान की **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से मैं प्रत्येक पदार्थ का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाकर ही मैं किसी वस्तु को लेने की इच्छा करता हूँ। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं किसी वस्तु का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् किसी भी वस्तु को स्वाद व सौन्दर्य के लिए न लेकर मैं पोषण के दृष्टिकोण से ही उसे ग्रहण करता हूँ। ४. **अग्नये**=अग्नि के लिए **जुष्टम्**=सेवन की गई वस्तु को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करके मैं यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बनता हूँ। यज्ञशेष ही 'अमृत' है।

५. **अग्निषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस वस्तु को ग्रहण करता हूँ जो अग्नि व सोम के लिए सेवित होती है। हमारे जीवनों में दो मुख्य तत्त्व हैं—अग्नि और सोम। आयुर्वेद में इसी कारण से सब भोजन 'आग्नेय' और 'सौम्य'—इन्हीं दो भागों में बाँटे गये हैं। आग्नेय अंश शक्ति देता है तो सौम्य अंश शान्ति व दीर्घ जीवन का कारण बनता है। मैं उस भोजन का ग्रहण करता हूँ जिसमें ये दोनों ही तत्त्व उचित मात्रा में विद्यमान होते हैं। ऐसे भोजन के ग्रहण से मेरा जीवन रसमय बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की आज्ञा में, प्रयत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से, मैं पदार्थों का ग्रहण करता हूँ, यज्ञशिष्ट को ही ग्रहण करता हूँ और शान्ति व शक्ति के लिए ही ग्रहण करता हूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्राणिमात्र के लिए

भूताय॑ त्वा॒ नारा॑तये॒ स्व॒रभि॑विख्ये॒षं दृꣳह॑न्तां॒ दुर्या॒ः पृथि॒व्यामु॒र्व्व॒न्त॒रि॑क्ष॒मन्वे॑मि पृथि॒व्यास्त्वा॒ नाभौ॑ सादया॒म्यदि॑त्याऽउ॒पस्थेऽग्ने॑ ह॒व्यꣳर॑क्ष॥ ११॥

पिछले मन्त्र की भावना 'यज्ञशिष्ट' को ग्रहण करता हूँ' का ही विस्तार इस मन्त्र में है—१. मैं **त्वा**=तुझे **भूताय**=प्राणिमात्र के हित के लिए ग्रहण करता हूँ, **अरातये न**=न देने के लिए नहीं। मैं किसी भी वस्तु को यज्ञार्थ ही ग्रहण करता हूँ, भोगार्थ नहीं। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**—त्यागभाव से भोगो—इस आदेश को मैं भूलता नहीं। २. इस यज्ञमय जीवन का ही परिणाम है कि मैं **स्वः**=स्वर्ग को ही **अभिविख्येषम्**=अपने चारों ओर देखता हूँ। यज्ञ से उभयलोक का कल्याण होता ही है। एक-दूसरे को खिलाने से देवताओं का पोषण अति सुन्दरता से होता है, इसके विपरीत सदा अपने ही मुख में आहुति देनेवाले असुर भूखे ही रहते हैं। ३. इस यज्ञ से **दुर्याः**=हमारे घर **दृंहन्ताम्**=दृढ़ बनें। यज्ञ भोगवृत्ति का प्रतिबन्धक है। भोगवृत्ति के प्रतिबन्ध से ही हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क दृढ़ बनते हैं। घर की दृढ़ता भी यज्ञिय वृत्ति पर ही निर्भर है। इस वृत्ति के न रहने पर परस्पर लड़ाई-झगड़े होकर घर

समाप्त ही हो जाता है। ४. अतः **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में—उस शरीर में जिसमें प्रत्येक शक्ति का विस्तार (प्रथ विस्तारे) किया गया है, मैं उस **अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अनुएमि**=इस यज्ञवृत्ति की अनुकूलता से प्राप्त होता हूँ। यज्ञिय वृत्ति मेरे हृदय को विशाल बनाती है। ५. इस यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=पृथिवी की **नाभौ**=नाभि में **सादयामि**=बिठाता हूँ। **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'**—यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है, केन्द्र है, अतः प्रभु ने हमें यज्ञ में स्थापित किया है। गीता के शब्दों में प्रभु ने हमें 'यज्ञसहित उत्पन्न करके कहा है कि इस यज्ञ से तुम फूलो-फलो। यह यज्ञ तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो। ६. प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे **अदित्याः**=अदिति की **उपस्थे**=गोद में स्थापित करता हूँ। यह अदिति 'अदीना-देवमाता' है। प्रभु मुझे (जीव को) इसके लिए अर्पित करते हैं। इसकी गोद में मैं अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनता हूँ। जहाँ मैं हीन भावनावाला नहीं होता वहाँ दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके घमण्डी भी नहीं हो जाता। मुझमें 'अदीनता व नातिमानिता (विनीतता)' का सुन्दर समन्वय होता है। ७. अन्त में प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा हव्य की रक्षा करना। तेरा जीवन यज्ञिय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'**—यह तेरा आदर्श वाक्य हो और तू यज्ञों से कभी पृथक् न हो।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा हम जीवन को स्वर्गमय बना लें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अप्सवितारौ। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

'वायु, सूर्य, जल' द्वारा पवित्रीकरण

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्॥ १२॥

प्रभु पति-पत्नी को सम्बोधित करके कहते हैं कि १. **पवित्रे स्थः**=तुम दोनों पवित्र जीवनवाले हो। २. **वैष्णव्यौ**=विष्णु के उपासकों में तुम उत्तम हो। विष्णु के उपासक वे हैं जो ['विष्लृ व्याप्तौ'] व्यापक=उदार मनोवृत्तिवाले बने हैं। अथवा जिन्होंने **'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः (गोपा अदाभ्यः)**—इस मन्त्र के अनुसार तीन पग रक्खे हैं, अतः विष्णु कहलाये हैं। तीन पग 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नति के ही प्रतीक हैं। एवं, तुम दोनों ने शरीर को स्वस्थ बनाया है, मन को निर्मल और बुद्धि को बड़ा उज्ज्वल व तीव्र बनाने का प्रयत्न किया है। ३. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **वः**=तुम सबको **उत्पुनामि**=मैं पवित्र करके उन्नति-पथ पर ले-चलता हूँ।

'किन-किनसे पवित्र करता हूँ'? (क) सबसे पहले तो **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस छिद्र व अवकाश से रहित वायु से। **'पवित्रं वै वायुः'** (तै० १।२।५।११) के अनुसार वायु पवित्र है। यह अच्छिद्र है, क्योंकि इसने सारे अवकाश को भरा हुआ है। वायु स्थान को रिक्त नहीं रहने देती। यह हमारे रुधिर को आक्सीजन प्राप्त कराके शुद्ध करती है और इस प्रकार स्वास्थ्य की साधक होती है। (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से मैं तुझे पवित्र करता हूँ। सूर्य की किरणें छाती पर पड़ती हैं और रोग-कृमियों का संहार करती हैं। इस प्रकार ये रोगरूप मलों को दूर करके शरीर को शुद्ध बनाती हैं (ग) इन दोनों से बढ़कर **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल हैं जोकि **अग्रेगुवः**=निरन्तर समुद्र की ओर आगे

और आगे चलते जाते हैं, **अग्रेपुवः**=सबसे अधिक पवित्र करनेवाले हैं, क्योंकि '**आपः सर्वस्य भेषजीः**'—ये जल रोगमात्र के औषध हैं। हे जलो! आप **अद्य**=आज **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अग्रे नयत**=हमारे जीवनों में आगे ले-चलो, अर्थात् हमारे जीवनों में यज्ञ की भावना बढ़े। **यज्ञपतिम्**=यज्ञ के पालक—निरन्तर यज्ञ करनेवाले को **अग्रे नयत**=उन्नत करो। यह यज्ञ उसके अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक बने। ये यज्ञ उसे **सुधातुम्**=उत्तम धातुओंवाला बनाएँ। उसके शरीरस्थ सब धातु निर्दोष हों। वस्तुतः इस प्रकार धातुओं की निर्दोषता से ही यह यज्ञ मनुष्य को अज्ञात व ज्ञात सभी रोगों से मुक्त करता है। हे जलो! तुम इस **यज्ञपतिम्**=यज्ञपति को **देवयुवम्**=दिव्य गुणों से संयुक्त करनेवाले होओ।

भावार्थ—वायु, सूर्य व जल हमारे जीवन में पवित्रता का सञ्चार करें। इस पवित्रता के परिणामस्वरूप हममें यज्ञियवृत्ति बढ़े। हम उत्तम रस, रुधिर आदि धातुओंवाले होकर स्वस्थ शरीरवाले और दिव्य गुणों की वृद्धि करके उत्तम मनवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—इन्द्रः[उ], अग्निः[क], यज्ञः[र]। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्[उ], भुरिगार्चीगायत्री[क] भुरिगुष्णिक्[र]। **स्वरः**—ऋषभः[उ,र], षड्जः[क]॥

वृत्रतूर्य में इन्द्र-वरण अथवा शोधन

[उ]युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। [क]अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। [र]दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि॥ १३॥

१. इस संसार में जीव का मुख्य उद्देश्य काम आदि शत्रुओं का पराजय है। ये काम आदि शत्रु ज्ञान को आवृत करने के कारण 'वृत्र' हैं। इनके साथ किया जानेवाला संग्राम 'तूर्य' है। इन काम आदि का संहार 'वृत्रतूर्य' है। इस **वृत्रतूर्ये**=काम-संहाररूप यज्ञ के निमित्त **युष्माः**=तुम्हें **इन्द्रः**=उस प्रभु ने **अवृणीत**=वरा है, चुना है। जिन लोगों की जीवन-स्थिति बहुत ही निकृष्ट थी उन्हें तो प्रभु ने भोगयोनियों में भेज दिया। मध्यम स्थितिवालों को मानव-जीवन अवश्य मिला, परन्तु वे काम आदि से प्रतारित होनेवाले 'इ-तर' जन ही रहे (common man काम से (इ) प्रतारित होनेवाले इतर), परन्तु जिन लोगों ने गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने को पवित्र करने का प्रयत्न किया, उन्हें प्रभु ने उस सात्त्विक श्रेणी में रक्खा है जो काम आदि के पराजय में लगे रहते हैं। २. **यूयम्**=तुम भी **वृत्रतूर्ये**=इस काम-संहाररूप संग्राम में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवृणीध्वम्**=वरो। उसके साहाय्य के बिना इन प्रबल शत्रुओं का विनाश न हो सकेगा। कामदेव को तो महादेव ही भस्म करेंगे। '**त्वया स्विद् युजा वयम्**'—तुझ साथी के साथ मिलकर ही हम इन शत्रुओं को पराजित कर पाएँगे। ३. उस प्रभु को वरने पर **प्रोक्षिताः स्थ**=तुम प्रकर्षेण (उक्ष सेचने) सिक्त हो जाते हो। यह जल छिड़कना शुद्धि का प्रतीक है, अतः तुम शुद्ध हो जाते हो। अथवा प्रभु के वरण से तुम शक्ति से भर जाते हो—तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग में शक्तिरस का सञ्चार हो जाता है। ४. तुम भी यह निश्चय करो कि **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि के लिए सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करने के बाद ही मैं यज्ञशिष्ट का अपने लिए प्रयोग करता हूँ और **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **अग्नीषोमाभ्याम्**=अग्नि और सोम के लिए **जुष्टम्**=सेवित को **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ। शक्ति (अग्नि) और शान्ति (सोम) की वृद्धि के लिए ही प्रत्येक पदार्थ

का प्रयोग करता हूँ। भोजन भी मेरे लिए यज्ञ का रूप धारण कर लेता है और उसका लक्ष्य होता है 'शक्ति और शान्ति की प्राप्ति'। ५. प्रभु कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ के प्रयोग में उक्त भावना को रखकर तुम **दैव्याय कर्मणे**=दैव्य कर्मों के लिए—आत्मा के लिए हितकर कर्मों के लिए **शुन्धध्वम्**=अपने को शुद्ध कर डालो जिससे **देवयज्यायै**=उस महान् देव से तुम्हारा यजन=सङ्गतीकरण हो सके। **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'**—जनक आदि ने ऐसे ही कर्मों से सिद्धि प्राप्त की थी। तुम भी इन दैव्य कार्यों से उस देव के सान्निध्य को प्राप्त कर सकोगे। ६. इन दिव्य कर्मों में लगने के द्वारा तुममें **यत् वः**=जो कुछ **अशुद्धाः**=मालिन्य हैं, दोष हैं, वे **पराजघ्नुः**=सुदूर विनष्ट हों। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'**—योगी लोग आत्मशुद्धि के लिए सदा कर्म किया करते हैं। ७. इस प्रकार **वः**=तुम्हारे **इदं तत्**=इस प्रसिद्ध शोधन कर्म को **शुन्धामि**=शुद्ध कर डालता हूँ, अर्थात् इस प्रकार यह शोधन की प्रक्रिया ठीक रूप से सम्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के साहाय्य से हम काम आदि दोषों के संहार में समर्थ हों। दिव्य कर्मों में लगे रहने के द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ। जो-जो मलिनता है उसे दूर करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

अदिति के सम्पर्क में

शर्मास्यवधूतꣳरक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु॥ १४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब अशुद्धता को दूर करनेवाला तू **शर्म असि**=आनन्द-ही-आनन्द है, अर्थात् तेरा जीवन सचमुच आनन्दमय बना है। २. **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **अवधूतम्**=तुझसे सुदूर कम्पित हुई हैं, अर्थात् नष्ट हो गई हैं, साथ ही **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ भी **अवधूताः**=कम्पित होकर नष्ट हो गई हैं। मेरे जीवन में न भोग-विलासवाली राक्षसी वृत्तियाँ हैं और न ही अदान की वृत्ति है। भोगमय जीवन ही हमें कृपण बनाता है। २. **अदित्याः त्वक् असि**=अदिति का तू संस्पर्श (त्वच्=Touch) करनेवाला है। अदीना देवमाता के साथ तेरा सम्पर्क है और **अदितिः**=यह अदीना देवमाता भी **त्वा**=तुझे **प्रतिवेत्तु**=सम्यक्तया जाने। तू अदिति से परिचित हो, अदिति तुझसे। इस प्रकार अदिति से तेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो। प्रभु ने अदिति की गोद में ही तो तुझे बिठाया है (मन्त्र ११)। संक्षेप में तू अदीन, अकृपण, हीनता की भावना से रहित 'बहुलाभिमानः'=आत्म-सम्मान की भावनावाला हो और अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास करनेवाला हो।

४. इन्हीं दिव्य गुणों के विकास के कारण तू **अद्रिः**=न विदारण के योग्य—धर्म-पथ से विचलित न होने योग्य **असि**=है (न दृ), तथा आदरणीय (आ+दृ) बना है। ५. **वानस्पत्यः**=तेरा यह सारा क्षेत्र (अन्नमय आदि कोश) वनस्पति का ही विकार है, अर्थात् तूने वनस्पति भोजन को ही स्वीकार किया है। शाकाहारी होने से ही तुझमें राक्षसी वृत्तियाँ नहीं पनपीं। ६. **ग्रावा असि**=तू (गृ) वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (ग्रह् वन् आदन्तादेशः) अथवा ज्ञान-विज्ञानों का ग्रहण करनेवाला है। ७. **पृथुबुध्नः**=तू विशाल मूलवाला है। तूने अपनी उन्नति की नींव व्यापक बनाई है। तू शरीर, मन व मस्तिष्क सभी का ध्यान करके चला है। बस, अन्त में यही कहना है कि **त्वा**=तुझे **अदित्याः त्वक्**=अदिति का सम्पर्क

प्रतिवेत्तु=प्राप्त हो। तू सदा अदीन देवमाता के सम्पर्क में निवास कर।

भावार्थ—अदिति के सम्पर्क में रहने से हमारा जीवन सुन्दर व शिव हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृज्जगती [क], याजुषीपंक्तिः [ख]। **स्वरः**—निषादः [क], पञ्चमः [ख]॥

समाजसेवी का स्वरूप

[क]अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद् ग्रावासि वानस्पत्यः सऽइदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व। [ख]हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि॥ १५॥

अदिति के सम्पर्क में रहकर अपने जीवन को सुन्दर बनानेवाला व्यक्ति अपना ठीक परिपाक करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसे प्रभु निम्नरूप से प्रेरणा देते हैं—

१. **अग्नेः**=अग्नि का **तनूः असि**=तू विस्तारक है। तूने अपने जीवन में शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्साह से परिपूर्ण किया है। 'अग्नि' उत्साह का प्रतीक है। आलसी को 'अनुष्णकः' कहते हैं। प्रभु का सच्चा स्तोता शारीरिक स्वास्थ्य के कारण अग्नि की भाँति चमकता है। २. **वाचो विसर्जनम्**=तू मेरी इस वेदवाणी का चारों ओर (वि) दान करनेवाला है (सर्जन=दान)। सर्वत्र विचरता हुआ तू इस वेदवाणी का प्रचार करता है। ३. **देववीतये**=दिव्य गुणों के प्रजनन—उत्पन्न करने के लिए मैं **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् जैसे एक राष्ट्रपति भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए मन्त्रियों का ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रभु इस यज्ञमय जीवनवाले व्यक्ति का ग्रहण इसलिए करते हैं कि यह लोक में दिव्य गुणों का प्रचार करनेवाला बने। ४. **बृहद् ग्रावा असि**=तू विशाल हृदयवाला और वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (गृ)। उपदेष्टा को सदा विशाल हृदय होना चाहिए। संकुचित हृदयवाला होने पर वह शास्त्रों की व्याख्या भी ठीक नहीं करता, वह तो उनका प्रतारण ही करता है।

५. **वानस्पत्यः**=तू वनस्पति का ही प्रयोग करनेवाला है, मांस पर अपना पालन-पोषण करनेवाला नहीं है। ६. **सः**=वह तू **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **इदं हविः**=इस हविरूप भोजन को ही **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना, अर्थात् तेरा भोजन यज्ञशेष रूप तो हो ही साथ ही वह भोजन सौम्य हो, जो तेरे स्वभाव को शान्त बनाता हुआ तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि का कारण बने। **सुशमि (हविः)**=इस उत्तम शान्ति देनेवाले सौम्य भोजन को **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना। तेरा भोजन 'हविः' हविरूप तो हो ही **सुशमि**=उत्तम शान्ति देनेवाला भी हो। ७. **हविष्कृत्**=इस प्रकार अपने जीवन को हवि का रूप देनेवाले! तू **एहि**=मेरे समीप आ। **हविष्कृत्**=हविरूप भोजन करनेवाले जीव! तू **एहि**=मेरे समीप आ। प्रभु का सामीप्य उसे ही प्राप्त होता है जो अपने जीवन को लोकहित के लिए अर्पित कर देता है और इस लोकहित—परार्थ की वृत्ति को सिद्ध करने के लिए भोजन का हविरूप होना आवश्यक है। भोजन की पवित्रता से ही मन की पवित्रता सिद्ध होती है।

भावार्थ—हम यज्ञशिष्ट तथा सौम्य भोजनों के द्वारा अपने में दिव्य गुणों की वृद्धि करें और लोकहित के कार्यों में व्यापृत होते हुए वेदवाणी का प्रसार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—वायुः[क], सविता[ख]। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], विराड्गायत्री[ख]। स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[ख]॥

प्रभु की प्रेरणा

[क]कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वऽइषमूर्जमावद त्वया वयꣳसङ्घातꣳसङ्घातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतꣳरक्षः परापूता अरातयोऽपहतꣳरक्षो वायुर्वो विविनक्तु [ख]देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना॥ १६॥

प्रभु कह रहे हैं—१. **कुक्कुटः**=(कुकं पर-द्रव्यादानं कुटति हिनस्ति) तू पर-द्रव्य के आदान की वृत्ति को अपने से दूर करनेवाला **असि**=है। तुझमें कभी भी पर-द्रव्य को लेने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। **'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'**—पर-द्रव्यों को तू मिट्टी के ढेले के समान देखता है, उनके लिए कभी लालायित नहीं होता। २. **मधुजिह्वः**=तू माधुर्य से पूर्ण जिह्वावाला है। तू ज्ञान का प्रसार बड़ी मधुर व श्लक्ष्ण वाणी से करता है। यह तुझे भूलता नहीं कि **'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'**=मेरी वाणी के अग्रभाग व मूल में माधुर्य-ही-माधुर्य है। ३. **इषम्**=प्रेरणा को व **ऊर्जम्**=शक्ति को **आवद**=तू चारों ओर लोगों के जीवनों में फूँकने का ध्यान कर।

श्रोतृवृन्द इस उपदेष्टा से कहता है कि—४. **त्वया वयम्**=आपके साथ हम **संघातं संघातम्**=प्रत्येक वासना-संग्राम को **जेष्म**=जीतनेवाले बनें। आपकी प्रेरणा हममें उस उत्साह व शक्ति को भर दे कि हम इन वासनाओं को कुचलने में समर्थ हों। ५. **वर्षवृद्धं असि**=वर्षों के दृष्टिकोण से भी आप बढ़े हुए हो, अतः क्या ज्ञान और क्या अनुभव—दोनों के दृष्टिकोण से परिपक्व हो। आपके पीछे चलकर हमारा कल्याण ही होगा। **वर्षवृद्धं त्वा**=वर्षवृद्ध आपको **प्रतिवेत्तु**=प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सके—जान सके, अर्थात् आप लोगों के लिए अगम्य न हों। ६. आपकी कृपा से—आपके इस ज्ञानोपदेश से **परापूतं रक्षः**=(पूतं=washed away) हमारी सब राक्षसी वृत्तियाँ धुल जाएँ। ये वृत्तियाँ हमसे दूर हो जाएँ। **परापूताः अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ सुदूर विनष्ट हो जाएँ। हम जहाँ अपने रमण के लिए औरों का क्षय न करें वहाँ हम सदा दान की वृत्तिवाले बने रहें। **रक्षः अपहतम्**=हमारे राक्षसी भाव तो नष्ट ही हो जाएँ।

७. प्रभु उपदेष्टा व श्रोता दोनों से कहते हैं—**वायुः**=अपनी गतिशीलता से सब बुराइयों का हिंसन करता हुआ यह वायुदेव **वः**=तुम्हें **विविनक्तु**=विवेकयुक्त करे। प्रातः शुद्ध वायु का सेवन तुम्हारे मस्तिष्कों को उन्नत व पवित्र करे। **'मेधामिन्द्रश्च वायुश्च'**—इस मन्त्रभाग में वायु का मेधा-प्रदातृत्व स्पष्ट है। ८. यह **सविता देवः**=सब प्राणदायी तत्त्वों को जन्म देनेवाला (**सू**=जन्म देना) और सब दिव्यताओं का कोशभूत सूर्य जो **हिरण्यपाणिः**=स्वर्ण को हाथ में लिये हुए है—जिसके किरणरूप हाथ हमारे अन्दर स्वर्ण का प्रवेश करते हैं, मानो हमें स्वर्ण (gold) के इञ्जैक्शंज दे रहे हों। यह सूर्य **अच्छिद्रेण पाणिना**=अपने निर्दोष किरणरूप हाथों से **वः प्रतिगृभ्णातु**=तुम्हें ग्रहण करे, अर्थात् प्रातःकाल ही उस सूर्य की किरणें तुम्हें प्राप्त हों जो तुम्हें प्राण, शक्ति और दिव्यता देता है और तुम्हारे लिए अत्यन्त हितकर व रमणीय (हिरण्य) है।

भावार्थ—हम अस्तेय धर्म का पूर्णतया पालन करें, मधुर शब्द ही बोलें। प्रातःकालीन वायु व सूर्य के सम्पर्क में आकर स्वस्थ व विवेकयुक्त बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

भ्रातृव्य वध, आमाद, क्रव्याद अग्नि का दूरीकरण

धृष्टिरस्यपाऽग्नेऽअग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादꣳसेधा देवयजं वह। ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय॥ १७॥

१. हे जीव! **धृष्टिः असि**=तू शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, क्योंकि तू शरीर में रोगों और मन में काम-क्रोध आदि को नहीं आने देता, इसीलिए तू अग्नि बना है—आगे बढ़नेवाला—निरन्तर उन्नति करनेवाला। २. हे **अग्ने**=उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! **आमादम्**=कच्ची वस्तु को खानेवाली (आम+अद्) **अग्निम्**=अग्नि को **अपजहि**=अपने से दूर कर। कच्चापन दो प्रकार का होता है—(क) अग्नि पर रोटी आदि को पकाया गया, परन्तु उनका ठीक परिपाक नहीं हुआ। वह कच्ची रह गई रोटी व दाल आदि पेटदर्द व अन्य कष्टों का कारण होंगी ही। (ख) वृक्षों पर फल अभी कच्चे हों और उन्हें खाया जाए तो वे भी कष्टकर होंगे, अतः हमें 'आमाद अग्नि' को अपने से दूर रखना है। हमारी जाठराग्नि को इस प्रकार की अपरिपक्व वस्तुएँ न खानी पड़ें। ३. उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले इस जीव से प्रभु कहते हैं कि **क्रव्यादम्**=मांस खानेवाली अग्नि को तो **निःसेध**=निश्चय से निषिद्ध कर दे, अर्थात् मांस आदि खाने का विचार ही नहीं करना। मांसाहारी का स्वभाव निश्चय से क्रूर हो जाता है और वह मानवधर्म को ठीक प्रकार से नहीं पाल सकता।

४. **देवयजं वह**=तू अपने जीवन में देवयज्ञ को धारण करनेवाला हो। आमाद अग्नि को दूर करके हम शरीर को नीरोग बनाते हैं और क्रव्याद अग्नि को दूर करके मानस क्रूरता से ऊपर उठते हैं, इस प्रकार हम देवयज्ञ के योग्य हो जाते हैं। इस देवयज्ञ की मौलिक भावना 'केवल अपने-आप न खाना'—केवलादी न बनना है। ५. **ध्रुवम् असि**=तू अपने नियमों पर दृढ़ है। इस व्यवस्थित जीवन से तू **पृथिवीम्**=अपने शरीर को **दृंह**=दृढ़ बना। शरीर का स्वास्थ्य नियमित जीवन पर ही निर्भर है। विशेषकर 'कालभोजी'=समय पर खानेवाला बीमार नहीं पड़ता। ६. शरीर के स्वस्थ होने पर वह अपने ज्ञान को निरन्तर स्वाध्याय से बढ़ाता है। स्वस्थ शरीर में बल की वृद्धि हो जाती है। स्वस्थ व्यक्ति ज्ञान और बल को बढ़ाकर सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का सेवन करनेवाले तुझे और **सजातवनि=(सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा।)** तेरे जन्म के साथ ही उत्पन्न किये गये यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे **भ्रातृव्यस्य**=(भ्रातुर्व्यन् सपत्ने) शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए तू समर्थ हो सके। जब मनुष्य स्वस्थ होकर ज्ञान और बल का सम्पादन करके यज्ञशील बनता है तब वह प्रभु के उपासन के योग्य बनता है। यह प्रभु का उपासन इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है कि यह काम आदि शुत्रओं का शिकार न होकर उनका विध्वंस करनेवाला होता है।

भावार्थ—कच्ची वस्तुओं और मांस आदि को त्यागकर हम रोगों व वासनाओं से ऊपर उठें। नियमित जीवन बिताकर शरीर को दृढ़ बनाएँ। ज्ञान, बल व यज्ञ का सेवन करते हुए प्रभु के उपासक बनें और काम आदि शत्रुओं का वध करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्[ङ], आर्चीत्रिष्टुप्[क], आर्चीपंक्तिः[र]।
स्वरः—ऋषभः[ङ], धैवतः[क], पञ्चमः[र]॥

ज्ञान, बल व यज्ञ

[ङ]अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [क]धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [र]विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्॥ १८॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील जीव! तू **ब्रह्म**=ज्ञान का **गृभ्णीष्व**=ग्रहण कर। ज्ञान ही सब उन्नतियों का मूल है। २. **धरुणमसि**=तू अत्यन्त धैर्य-वृत्तिवाला है, अतः **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयरूप अन्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ बना। अन्तःकरण का सर्वमहान् गुण धृति ही है। वस्तुतः यह धृति ही धर्म के अन्य सब अङ्गों की नींव है। इसी दृष्टिकोण से महर्षि मनु ने धृति को धर्म का सर्वप्रथम लक्षण कहा है। ३. धृति के द्वारा अन्तःकरण के स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाले **ब्रह्मवनि त्वा**=तुझ ज्ञान का सेवन करनेवाले को, **क्षत्रवनि**=बल का सेवन करनेवाले तथा **सजातवनि**=सह-उत्पन्न यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे मैं **उपदधामि**=अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो। ४. **धर्त्रम् असि**=तू धारक शक्ति से युक्त है—तेरी स्मृतिशक्ति प्रबल है (तू retentive memory वाला है), **दिवम् दृंह**=तू अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को दृढ़ बना। स्मृतिशक्ति से धारण किया हुआ ज्ञान मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएगा। **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=कामादि शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो सके। ५. वस्तुतः जब मनुष्य शरीर, हृदय और मस्तिष्क—सभी को दृढ़ बना लेता है तब प्रभु-उपासन के लिए पूर्णरूप से तैयार हो चुकता है। **त्वा**=इस तुझे **विश्वाभ्यः आशाभ्यः**=सब दिशाओं से **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। यह व्यक्ति विविध दिशाओं में भटकनेवाली इन्द्रियवृत्तियों को केन्द्रित करके प्रभु में एकाग्र होने का प्रयत्न करता है। ६. हे जीव! **चितः स्थ**=तुम चेतन हो। चेतन ही नहीं **ऊर्ध्व चितः**=उत्कृष्ट चेतनावाले हो, अतः अपने हित को समझते हुए **भृगूणाम्**=ज्ञान-परिपक्व (उत्कृष्ट ज्ञानवाले) लोगों के तथा **अङ्गिरसाम्**=जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग लोच-लचकवाले हैं, उनके **तपसा**=तप से **तप्यध्वम्**=तप करनेवाले बनो। भृगुओं का तप 'स्वाध्याय' है तथा अङ्गिरा लोगों का तप 'ऋत' है। तुम अपने जीवन को नैत्यिक स्वाध्यायवाला बनाओ तथा तुम्हारा प्रत्येक कार्य ठीक समय व स्थान पर हो, जिससे तुम भृगुओं की भाँति ज्ञानी तथा अङ्गिरसों की भाँति स्वास्थ्य की दीप्तिवाले बन सको। ज्ञान की दृष्टि से तुम 'ऋषि' बनो तो बल के दृष्टिकोण से एक 'मल्ल' बनो। यही तो आदर्श पुरुष है। 'ऋषि+मल्ल'—(sage+athlete)।

भावार्थ—यदि हम अपने स्वरूप व उद्देश्य को न भूलें तो स्वाध्याय व नियमित जीवन को अवश्य अपनाएँगे।

सूचना—सत्रहवें और अठारहवें मन्त्र में 'ध्रुव, धरुण व धर्त्र' शब्दों का प्रयोग हुआ है। शरीर के लिए जीवन की क्रियाओं में हमें ध्रुवता से चलना है, मानस स्वास्थ्य के लिए धरुण=धृति-सम्पन्न बनना है तथा मस्तिष्क की उज्ज्वलता के लिए प्राप्त ज्ञान को धारण करनेवाले 'धर्त्र' होना है।

मस्तिष्क के लिए 'ब्रह्मवनि'=ज्ञान का सेवन करनेवाला बनना है तो शरीर के लिए 'क्षत्रवनि' बल का सेवन करनेवाले तथा हृदय के लिए 'सजातवनि' यज्ञ आदि उत्तम भावनाओं का सेवन करनेवाला।

ज्ञान, बल और यज्ञ के होने पर व्यक्ति प्रभु का सच्चा उपासक बनता है और शत्रुओं का संहार कर पाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पर्वती बुद्धि—महादेव की पार्वती

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिव स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु॥ १९॥

जब व्यक्ति ज्ञान, बल व यज्ञ को अपनाता है तब उसका जीवन सुखमय हो जाता है। १. **शर्म असि**=तू आनन्दमय है, क्योंकि **रक्षः**=तूने राक्षसी भावनाओं को **अवधूतम्**=कम्पित करके अपने से दूर किया है, **अवधूताः अरातयः**=न देने की भावना को दूर भागा दिया है। तू **अदित्याः त्वक् असि**=अदीना देवमाता का संस्पर्श करनेवाला है। **त्वा**=तुझे **अदितिः**=यह अदीना देवमाता **प्रतिवेत्तु**=जाने। तू अदिति के सम्पर्क में हो, अदिति तेरे सम्पर्क में हो, अर्थात् तेरा सारा वातावरण ही अदीनता व दिव्य गुणोंवाला हो। संसार में मनुष्य को असभ्य (blunt) तो नहीं बनना, परन्तु गिड़गिड़ाना भी तो नहीं। यथासम्भव दिव्य गुणों का अपने में विकास करना है। इस दैवी सम्पति का आरम्भ 'अभय' से ही होता है। जीव की इस उन्नति में 'बुद्धि' उसकी सहायिका है। आत्मा रथी है तो बुद्धि उसका सारथि है। आत्मा राजा है तो बुद्धि मन्त्रिणी है। आत्मा पति है तो बुद्धि पत्नी है। आत्मा महादेव है तो उसकी पार्वती यह बुद्धि ही है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **धिषणा असि**=तू धारण करनेवाली 'बुद्धि' है। **पर्वती** तू पूरण करनेवाली है (पर्व पूरणे), सब न्यूनताओं को दूर करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **अदित्याः त्वक् प्रतिवेत्तु**=अदिति का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे ३. तू **दिवः**=प्रकाश की **स्कम्भनीः असि**=धारण करनेवाली है। जैसे 'स्कम्भ' मकान की छत को सदा सहारा देता है, उसी प्रकार जीवन में यह बुद्धि प्रकाश का स्कम्भ है। सारे प्रकाश का साधन यह बुद्धि ही है। यह विकृत हुई और प्रकाश गया। हे **धिषणा**=बुद्धि! तू **पार्वतेयी**=(स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है) पर्वती=पूरण करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **पर्वती**=यह पूरण करने की प्रक्रिया **प्रतिवेत्तु**=पूर्ण रूप से जाने, अर्थात् इस बुद्धि में हमारे जीवन को न्यूनताओं से ऊपर उठाकर पूर्ण बनाने की शक्ति सदा बनी रहे। उलटे मार्ग पर जाकर यह हमारे विनाश का कारण न बन जाए। प्रभुकृपा से हमारी यह बुद्धि **पर्वती**=पूरण करनेवाली बनी रहे।

भावार्थ—हमारी बुद्धि पर्वती हो—पूरण करनेवाली हो। यह हमें विनाश के मार्ग पर न ले-जाए।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शुद्ध बुद्धि का वर्धक 'धान्य' व सूर्यकिरणें

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि॥ २०॥

गत मन्त्र में प्रकाश की आधारभूत, जीवन में सद्गुणों का पूरण करनेवाली बुद्धि का उल्लेख था। इस बुद्धि का निर्माण सात्त्विक आहार से होता है, उस सात्त्विक आहार का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है–

१. **धान्यम् असि**=तू धान्य है। **'धाने पोषणे साध्विति धान्यम्'**–पोषण में उत्तम है। तू मानव-शरीर का उत्तमता से पोषण करता है। स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व तीव्र बुद्धि को तू जन्म देता है। तू (क) **देवान् धिनुहि**=हमारे जीवन में दिव्य गुणों को प्रीणित कर। तेरे द्वारा सत्त्व की शुद्धि से हममें सात्त्विक गुणों का विकास हो (ख) हम **त्वा**=तुझे **प्राणाय**=प्राण के विकास के लिए स्वीकार करते हैं, तेरे द्वारा हमारी प्राणशक्ति बढ़े। **त्वा**=तुझे **उदानाय**=उदानवायु के ठीक कार्य करने के लिए स्वीकार करते हैं। **'उदानः कण्ठदेशे स्यात्'**–कण्ठदेश–गले के स्थान में कार्य करनेवाला उदानवायु ठीक हो। इसका कार्य ठीक होने पर ही दीर्घ जीवन होना सम्भव है। हम **त्वा**=तुझे **व्यानाय**=सर्वशरीर-व्यापी व्यानवायु के लिए ग्रहण करते हैं। धान्य के प्रयोग से सारा नाड़ी-संस्थान ठीक प्रकार से कार्य करता है और मनुष्य का मस्तिष्क ठीक बना रहता है।

२. **दीर्घाम्**=अत्यन्त विस्तृत शतवर्षगामिनी **प्रसितिम्**=(षिञ् बन्धने) कर्मतन्तु सन्तति का **अनु**=लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) और इस प्रकार **आयुषे**=उत्तम कर्ममय जीवन के लिए (इ गतौ) हे धान्य! **धाम्** =मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। इस धान्य के प्रयोग से मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और इस दीर्घ जीवन में मेरा कर्म-तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। मैं सदा कर्म करता रहूँ। वानस्पतिक भोजन जहाँ दीर्घजीवन का हेतु बनता है, वहाँ क्रियाशील (active) जीवन को भी जन्म देता है।

३. इस धान्य के प्रयोग के साथ हम सूर्य के साथ अपना सम्पर्क बढ़ाएँ। धान्य में भी वस्तुतः सारी प्राण-शक्ति सूर्यकिरणों द्वारा ही स्थापित होती है। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सविता देवः**=सब प्राणशक्ति का उत्पादक यह सूर्यदेव जो **हिरण्यपाणिः**=अपने किरणरूपी हाथों में हिरण्य='हितरमणीय प्राणशक्तिप्रद' तत्त्वों को लिये हुए है, वह सूर्य **वः** तुम्हें **अच्छिद्रेण**=अपने निर्दोष (छिद्र=दोष) **पाणिना**=किरणरूप हाथों से **प्रतिगृभ्णातु**=ग्रहण करे, अर्थात् हम प्रातः सूर्याभिमुख होकर प्रभु का ध्यान करें और यह सूर्यदेव अपने हाथों से हमारे शरीर में हितरमणीय तत्त्वों का प्रवेश करे। उदय होते हुए सूर्य की किरणें सब रोगकृमियों का संहार करती हैं। ४. हे सूर्यदेव! मैं **त्वा**=तुझे **चक्षुषे**=दृष्टिशक्ति की वृद्धि के लिए ग्रहण करता हूँ। **'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्'** वस्तुतः सूर्य ही चक्षु के रूप में आँखों में रह रहा है। मैं सूर्याभिमुख बैठता हूँ तो सूर्यकिरणें मेरी आँखों में दृष्टिशक्ति का प्रवेश कराती हैं। आँखों की सब निर्बलताएँ व रोग सूर्यकिरणों के ठीक सेवन से अवश्य दूर हो जाते हैं। ५. हे सूर्य! तू **महीनाम्**=अन्य सब महनीय=पूजनीय–उत्तम-मनुष्य को महान् बनानेवाली शक्तियों का **पयः**=आप्यायन–वर्धन करनेवाला है। सूर्यकिरणों के ठीक सम्पर्क से हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्तियाँ बढ़ती हैं।

भावार्थ–दिव्य गुणों के वर्धन के लिए बुद्धि का सात्त्विक होना आवश्यक है। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए वानस्पतिक भोजन (धान्य) ही ठीक है, साथ ही सूर्यकिरणों का सम्पर्क भी अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—गायत्री[क], निचृत्पङ्क्तिः[ख]। स्वरः—षड्जः[क], पञ्चमः[ख]॥

ओषधियों का प्रयोग मात्रा में

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सं वपामि [ख]समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन। सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्॥ २१॥

गत मन्त्र में धान्य के प्रयोग का उल्लेख है, परन्तु 'वह प्रयोग कैसे हो' इसका प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **त्वा**=तेरा—तुझ धान्य का **सवितुः देवस्य**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=प्रसव में, अर्थात् प्रभु की अनुज्ञा में प्रयोग करता हूँ। प्रभु की अनुज्ञा में इस धान्य का न अतियोग करता हूँ, न अयोग करता हूँ अपितु यथायोग करता हूँ, **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ और **अश्विनोः**=प्राणापानों के **बाहुभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करता हूँ। २. जिन धान्य आदि ओषधियों का प्रयोग करता हूँ उन्हें **संवपामि**=बड़े उत्तम ढंग से बोता हूँ। **ओषधीभिः**=इन ओषधियों के साथ **आपः**=जल **सम्**=उत्तमता से सङ्गत हों। ओषधियों का सेचन उत्तम जल से हो। वृष्टिजल से सिक्त ओषधियाँ सात्त्विक गुणोंवाली होती हैं, अमेध्य—गन्दे जल से उत्पन्न ओषधियाँ तामस गुणों को जन्म देती हैं। इन उत्तम जलों के सेचन से **ओषधयः**=ओषधियाँ **रसेन**=रस से **सम्**=सङ्गत हों और ये **रेवतीः**=रयिवतीः—शक्तिरूप धन से पूर्ण ओषधियाँ **जगतीभिः**=गतिशील प्राणियों के साथ **सम् पृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् इन ओषधियों का सेवन व्यक्ति को पुरुषार्थी बनाए। **मधुमतीः**=मधुर रस से परिपूर्ण ये ओषधियाँ **मधुमतीभिः**=परस्पर मधुर व्यवहारवाली प्रजाओं से **संपृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् उन्हें मधुर बनाएँ।

संक्षेप में जिन धान्यों का हमें प्रयोग करना है, उन्हें हम उत्तमता से बोएँ। उनका सेचन भी सदा शुद्ध जल से करें। इससे उनमें सात्त्विक रस की उत्पत्ति होगी। अमेध्य-प्रभव ओषधियाँ शास्त्रों में अभक्ष्य मानी गई हैं। उनसे बुद्धि भी तामस् बनती है। उत्तम जल से सिक्त ओषधियों का सेवन करनेवाले गतिशील तथा मधुर स्वभाववाले होंगे। 'जगतीभिः' विशेषण क्रियाशीलता व निरालस्यता का संकेत करता है तो 'मधुमतीभिः' विशेषण माधुर्य का प्रतिपादक है। एवं, सात्त्विक ओषधियाँ हमें क्रियामय व मधुर स्वभाववाला बनाती हैं।

भावार्थ—शुद्ध जलों से जिनमें रस का सञ्चार हुआ है, उन ओषधियों के प्रयोग से हम अपने शरीर व मानस मलों को दूर करके अत्यन्त क्रियाशील व मधुर जीवनवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः[क], अग्निसवितारौ[ख]। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्[क], गायत्री[ख]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[ख]॥

वर्षिष्ठ अधिनाक में, सर्वोत्तम स्वर्ग में

[क]जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरु-प्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके॥ २२॥

हम अपने गृहस्थ को स्वर्ग कैसे बना सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए—पत्नी पति से कहती है—१. **त्वा जनयत्यै संयौमि**=एक उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए मैं आपके साथ मेल करती हूँ, 'जनयती' बनने के लिए। वस्तुतः गृहस्थ में

प्रवेश का मुख्य प्रयोजन उत्तम सन्तान का निर्माण है। पति-पत्नी परस्पर विलास के लिए एकत्र नहीं होते। २. इस मेल का परिणाम जो (अपत्यम्) सन्तान है **इदम्**=यह **अग्नेः**=अग्नि नामक प्रभु का ही है, वह हमारा नहीं है। पति-पत्नी को इस पवित्र भावना से चलना और सन्तान को प्रभु का ही समझना चाहिए। ३. **इदम्**=यह सन्तान **अग्नीषोमयोः**= अग्नि और सोमतत्त्व का है। इसमें 'अग्नि' तत्त्व भी है और 'सोम' तत्त्व भी। पिता से इसने अग्नितत्त्व प्राप्त किया है तो माता से सोमतत्त्व। जीवन का रस इन दोनों तत्त्वों के मेल पर ही निर्भर है। ४. **इषे त्वा**=अन्न-प्राप्ति के लिए मैं आपका ध्यान करती हूँ। अन्न के बिना घर के किसी भी कार्य का चलना सम्भव नहीं है। ५. **घर्मः असि**=इस उत्तम अन्न के सेवन से तू प्राणशक्ति को प्राप्त हुआ है (घर्मः सोमः), तू शक्ति का पुञ्ज बना है। ६. **विश्वायुः**=तू पूर्ण आयुवाला है—व्यापक जीवनवाला है। तूने अपने जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों की उन्नति का सम्पादन किया है।

७. **उरुप्रथाः**=तू खूब विस्तारवाला बना है (प्रथ विस्तारे), **उरु प्रथस्व**=तू खूब विस्तार को प्राप्त हो। तू जहाँ अपनी सब शक्तियों का विस्तार करे वहाँ तेरा हृदय भी विशाल हो। ८. **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक प्रभु **ते**=तेरी सब शक्तियों को **उरु प्रथताम्**= खूब विस्तृत करे, अर्थात् तेरा जीवन भी यज्ञमय हो, यज्ञ के द्वारा ही शक्तियों का विस्तार होता है। ९. इन सबसे बढ़कर बात यह है कि **अग्निः**= वह परमात्मा **ते त्वचम्**=तेरे सम्पर्क को **मा हिंसीत्**=नष्ट न करे, अर्थात् प्रभु के साथ तेरा सम्पर्क सदा बना रहे। इस प्रभु-सम्पर्क ने ही उपर्युक्त सब बातों को हमारे जीवन में लाना है। १०. **सविता देवः**= सबका प्रेरक देव **त्वा**=तुझे **श्रपयतु**=परिपक्व बनाए। तेरी शारीरिक, मानस व बौद्धिक शक्तियों का ठीक विकास हो। इनके ठीक परिपाक के द्वारा वे प्रभु तुझे **वर्षिष्ठे अधिनाके**=सर्वोत्तम स्वर्ग में स्थापित करे।

घर को स्वर्ग बनाने के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं—१. गृहस्थ को सन्तान-निर्माण का आश्रम समझा जाए। २. सन्तानों को हम प्रभु की धरोहर समझें। ३. सन्तानों में शक्ति (अग्नि) व शान्ति (सोम) के विकास का प्रयत्न करें। ४. घर में अन्न की कमी न होने दें। ५. अपनी शक्तियों को क्षीण न होने दें। ६. शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों का ठीक विकास करें। ७. 'विस्तार' हमारा आदर्श शब्द हो—हम हृदय को विशाल बनाएँ। ८. यज्ञों को हम शक्ति-विस्तार का साधन समझें। ९. प्रभु-सम्पर्क से हम कभी अलग न हों। १०. प्रभुकृपा से हमारा ठीक परिपाक हो।

भावार्थ—हम अपने घरों को स्वर्ग बनाने के लिए मन्त्रोक्त दस बातों को अपने जीवन में ढालें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

अभय, अनुद्वेग

मा भेर्मा संविक्थाऽअतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा॥ २३॥

पिछले मन्त्र में वर्णित वह व्यक्ति जिसका सवितादेव के द्वारा ठीक परिपाक होता है, सदा निर्भय होता है। उसमें दैवी सम्पत्ति का विकास होता है, जिसका प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है, अतः कहते हैं कि १. **मा भेः** =तू डर मत। वस्तुतः जो प्रभु का भय रखता

है, वह संसार में अभय होकर विचरता है। प्रभु से न डरनेवाला सभी से डरता है और प्रभु से डरनेवाला निडर रहता है। **मा संविक्थाः**=(विज् भय-चलन) तू उद्वेग से कम्पित मत हो। ठीक मार्ग पर चलनेवाले को किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता। २. **यज्ञः**=तेरा यज्ञ **अतमेरुः**=कभी श्रान्त होनेवाला न हो, अर्थात् तेरी यज्ञीय भावना सदा क्रियामय बनी रहे। ३. उस **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु की **प्रजा**=सन्तान **अतमेरुः भूयात्**=उत्तम कर्मों के करने में थक न जाए। जो व्यक्ति प्रभु के बने रहते हैं, वे थकते नहीं। प्रकृति के उपासक थक जाते हैं। वह विलासमय जीवन के कारण क्षीणशक्ति हो जाते हैं।

प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=तुझे **त्रिताय**=(त्रीन् तनोति) ज्ञान, कर्म व भक्ति के विस्तार के लिए प्रेरित करता हूँ और क्योंकि ज्ञानपूर्वक कर्म करने को ही भक्ति कहते हैं, अतः **द्विताय त्वा**=तुझे इन ज्ञान और कर्म का ही विस्तार करने के लिए कहता हूँ। आवश्यक कर्मों की प्रेरणा का आधार ज्ञान ही है, अतः **एकताय त्वा**=मैं तुझे ज्ञान के विस्तार के लिए प्रेरणा देता हूँ। **क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**=ब्रह्मज्ञानियों में क्रियावान् ही श्रेष्ठ होता है।

भावार्थ—हम अभय व निरुद्वेग हों। हमारा यज्ञ विश्रान्त न हो। हम आलसी न बनें। हम ज्ञान-कर्म व भक्ति तीनों के विस्तारक बनें। ज्ञानपूर्वक कर्म को ही भक्ति मानें। ज्ञान वही है जो हमें क्रियावान् बनाए।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—द्योविद्युतौ। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का दाँया हाथ

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यऽइन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः॥ २४॥

१. (क) मैं **त्वा**=तुझे (प्रत्येक पदार्थ को) **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु की आज्ञा यही है कि 'माप-तोलकर' भोग कर। न अतियोग, न अयोग, अपितु यथायोग सेवन कर। (ख) **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से, अर्थात् मैं प्रत्येक वस्तु को अपने पुरुषार्थ से कमाकर ग्रहण करता हूँ, किसी वस्तु को सेंतमेंत (बिना मूल्य) लेने की कामना नहीं करता। (ग) **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं किसी भी वस्तु का प्रयोग करता हूँ। (घ) **देवेभ्यः अध्वरकृतम्**=देवताओं के लिए यज्ञ में अर्पित की गई वस्तु के यज्ञशेष को ही मैं ग्रहण करता हूँ। **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।** जो देवताओं से दी गई वस्तुओं को बिना देवों को दिये खाता है, वह चोर ही है। सारे पदार्थ 'सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु' आदि देवों की कृपा से हमें प्राप्त होते हैं। इन देवप्रदत्त पदार्थों को यज्ञ द्वारा देवार्पण करके ही बचे हुए को खाना चाहिए। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** की भावना यही तो है। २. जो व्यक्ति उल्लिखित चार बातों का ध्यान रखते हुए सांसारिक पदार्थों को स्वीकार करता है, वह **इन्द्रस्य**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभु का **दक्षिणः बाहुः**=दाँया हाथ **असि**=बनता है, अर्थात् प्रभु उसे निमित्त बनाकर उत्तमोत्तम कार्य किया करते हैं। ये व्यक्ति अत्यन्त महान् कार्यों को करते हुए दीखते हैं, हमें ये सामान्य पुरुष न लगकर महामानव प्रतीत होने लगते हैं।

३. **सहस्त्रभृष्टिः**=यह व्यक्ति कार्यों में उपस्थित होनेवाले सहस्त्रों विघ्नों को नष्ट करनेवाला होता है—उन्हें भून डालनेवाला होता है। ४. **शततेजाः**=इसका जीवन सौ-के-सौ वर्ष तेजस्वी बना रहता है। भोग-मार्ग को न अपनाने से यह कभी क्षीणशक्तिवाला नहीं होता। ५. **वायुः असि**=यह वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशील होता है 'वा गतिगन्धनयोः'। यह अपनी क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होता है। ६. **तिग्मतेजाः**=यह प्रखर—तीव्र तेज का धारण करनेवाला होता है, इस तेजस्विता के कारण ही तो यह सब विघ्नरूप अन्धकारों को नष्ट करता हुआ अपने मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। इस तेजस्विता से ही यह ७. **द्विषतो वधः**=शत्रु का वध करनेवाला होता है। द्वेषरूप शत्रु ही सर्वमहान् शत्रु है और तेजस्विता के साथ इसका समानाधिकरण्य (एक स्थान पर रहना) कभी नहीं होता। जहाँ तेजस्विता है वहाँ द्वेष नहीं, जैसे जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं। इसलिए 'शत-तेजाः' व 'तिग्मतेजाः' यह द्वेष को अपने से दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करके वस्तुओं का ठीक प्रयोग करें, और 'प्रभु का दाहिना हाथ' बनने का प्रयत्न करें, परिणामतः हममें वह तेज आएगा जिसमें द्वेष आदि का सब कूड़ा-करकट भस्म हो जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सत्सङ्ग का माहात्म्य

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २५॥

१. संसार की वस्तुओं का प्रयोग स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर करना ही श्रेयस्कर है। इस स्थिति में पर-मांस से स्वमांस के संवर्धन का प्रश्न ही नहीं उठता और वनस्पतियों में भी जीव है, अतः उनके 'पत्रम्, पुष्पम्, फलम्' का प्रयोग हो सकता है, क्योंकि ये हमारे नख-लोमों की भाँति वनस्पतियों के मल हैं। उनके मूल की हिंसा तो हिंसा ही हो जाएगी, अतः भक्त प्रार्थना करता है—हे **देवयजनि पृथिवि**=देवताओं के यज्ञ करने की आधारभूत पृथिवि! मैं **ते**=तेरी **ओषध्याः**=इन ओषधियों के भी **मूलम्**=मूल को **मा हिंसिषम्**=हिंसित न करूँ। हाँ, जिस प्रकार मृत पशु के चमड़े आदि का प्रयोग निषिद्ध नहीं है, उसी प्रकार मृत वनस्पतियों के भी जड़-त्वगादि का ओषधियों में प्रयोग हो सकता है। २. 'इस ऊँचे दर्जे की अहिंसा की भावना हममें उत्पन्न हो सके' इसके लिए कहते हैं कि (क) **व्रजम्**=**(व्रजन्ति जानन्ति जना येन तम् सत्सङ्गम्)** जिससे मनुष्यों के ज्ञान का वर्धन होता है, उस सत्सङ्ग को **गच्छ**=तुम प्राप्त करो। उस सत्सङ्ग को जो **गोष्ठानम्**=(गौर्वाणी तिष्ठति यस्मिन्) वेदवाणी का प्रतिष्ठा स्थान है, जिसमें सदा ज्ञान की वाणियों का प्रचार होता है, (ख) इन सत्सङ्गों में **द्यौः**=विद्या का प्रकाश **ते**=तेरे लिए वर्षतु (शब्दविद्याया वृष्टिं करोतु) ज्ञान की वर्षा करे। हम सत्सङ्गों में जाएँ और इस ज्ञान की वर्षा से आध्यात्मिक सन्ताप को दूर करके शान्ति का लाभ करें।

३. अब प्रार्थना करते हैं कि (क) हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की आधारभूत उत्कृष्ट भूमि में—पृथिवी के प्रदेश में **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **बधान**=बाँधने की कृपा कीजिए।

हमारी सत्सङ्ग की रुचि बनी ही रहे। हमारी परिस्थिति ऐसी हो कि न चाहते हुए भी हमें सत्सङ्ग में जाना ही पड़े। 'माता-पिता की आज्ञा, अपने अध्यक्ष का आदेश, प्रधान या मन्त्री आदि पदों का बन्धन' और इसी प्रकार की शतशः बातें हमें सत्सङ्ग में पहुँचने के लिए कारण बनती रहें। हे प्रभो! बस, आप ऐसी ही व्यवस्था कीजिए कि **'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** जिससे हमारे सभी लोग उत्तम सत्संगति से सदा उत्तम मनोंवाले बने रहें। (ख) हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो एक व्यक्ति हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिसे हम अप्रिय समझते हैं **तम्**=उसे भी **अतः**=इस उपदेश से **मा मौक्**=रहित मत कीजिए। वह भी सत्सङ्गों में होनेवाले इन उपदेशों से वञ्चित न हो। सत्सङ्गों से वह भी पवित्र मनवाला होकर द्वेषादि मलों से रहित हो जाए।

भावार्थ—हम इस पृथिवी को यज्ञ करने का स्थान समझें। हम वनस्पति की भी हिंसा करनेवाले न हों। सत्सङ्ग हमपर ज्ञान की वर्षा करे। हमें सत्सङ्ग में अवश्य जाएँ, इनसे तो हमारा शत्रु भी वञ्चित न हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिः[क], भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिः[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अदानवृत्ति का दूरीकरण

[क]अपारुꣳ पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। [ख]अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २६॥

१. सब यज्ञ दानशीलता से चलते हैं, अतः हम अदानशीलता को दूर करते हैं। सत्सङ्गति से जहाँ सुमनस्त्व की प्राप्ति की प्रार्थना है, वहाँ साथ ही **'दानकामश्च नो भुवत्'**, अथर्ववेद के इन शब्दों में यही कहा गया है कि हमारे सब व्यक्ति देने की इच्छावाले—इच्छापूर्वक दान देनेवाले हों। यजुर्वेद के शब्दों में **'आशीर्दा'** खूब उत्साह से, इच्छापूर्वक, दिल खोलकर देनेवाले हों और **अररुम्**=न देनेवाले को, कृपण मनोवृत्तिवाले को **पृथिव्यै**=इस पृथिवी पर (पृथिव्यां, ङि=ङे) होनेवाले **देवयजनात्**=देवों द्वारा किये जानेवाले यज्ञकर्मों से—सब भद्र पुरुषों के सामाजिक उत्सवों से **अपवध्यासम्**=दूर करता हूँ (हन् गति)। एक प्रकार से इनका सामाजिक बहिष्कार (Social boycott) करता हूँ। यह सामाजिक बहिष्कार सम्भवतः इनकी इस अदानवृत्ति को दूर करने में सहायक हो। सामाजिक बहिष्कार से भयभीत हुआ वह **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग में जाए, जो सत्सङ्ग **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों के प्रचार का स्थान बनता है। वहाँ सत्सङ्ग में **ते**=तेरे लिए **द्यौः**=ज्ञान का प्रकाश **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। **देव सवितः**=हे प्रेरक देव! **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से आप इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की उत्कृष्ट भूमि में **बधान**=हमें बाँध दीजिए। हमें ही क्या, इस अदानशील पुरुष को भी **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो हमसे प्रीति नहीं करता और परिणामतः **यम्**=जिसे **वयम् द्विष्मः**=हम भी नहीं चाहते **तम्**=उस कृपण को भी **अतः**=इस ज्ञानोपदेश से **मा मौक्**=दूर मत कीजिए।

२. **अररुः**=न देनेवाला **दिवम्**=स्वर्ग को **मा पप्तः**=(पत् गतौ) प्राप्त न हो। अदानशील को स्वर्ग कभी नहीं मिलता। इसका इहलोह नरक ही बना रहता है। दान ही यज्ञ की चरम सीमा है। यह दानरूप यज्ञ हमारे इस लोक को भी सुखी बनाता है और परलोक को भी। जो व्यक्ति दानशील बना रहता है, वह भोगप्रवण नहीं होता। भोगप्रवण न होने से उसके शरीर में सोमकण (द्रप्सः=drops of soma) सुरक्षित रहते हैं। ये सुरक्षित सोमकण इसकी ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं। इसका ज्ञान-सरोवर इन सोम-कणों की सुरक्षा से सूखता नहीं। बस, इस बात का ध्यान करते हुए सदा दिल खोलकर देनेवाला बनना। तेरी वृत्ति भोगवृत्ति न हो जाए और **द्रप्सः**=ये सुरक्षित सोमकण **ते**=तेरे **द्याम्**=इस मस्तिष्करूप द्युलोक को **मा स्कन्**=(स्कन्दिर्=गतिशोषणयोः) सूखने न दें। तेरा ज्ञान-समुद्र सदा ज्ञान-जल से परिपूर्ण रहे। इसके लिए तू **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग को प्राप्त कर, उस सत्सङ्ग को जोकि **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों का स्थान है। यहाँ **द्यौः**=यह विद्याप्रकाश **ते**=तेरे लिए **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। तेरी प्रार्थना यह हो कि हे **सवितः देव**=प्रेरक प्रभो! हमें **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की इस उत्कृष्ट स्थली में **बधान**=बाँधिए। हमें ही क्या, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे द्वेष करता है **च**=और **यं वयं द्विष्मः**=जो हमारा अप्रिय बन गया है **तम्**=उसे भी **अतः**=इन सत्सङ्गों में होनेवाले उपदेशों से **मा मौक्**=मत वञ्चित कीजिए। हमारे शत्रुओं को भी इन सत्सङ्गों का सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे वे वहाँ बरसनेवाले ज्ञान-जल से निर्मल होकर शत्रु ही न रहें और वे यज्ञों के महत्त्व को समझकर दानशील बन जाएँ।

भावार्थ—कृपण का सामाजिक बहिष्कार करके उसकी अदानवृत्ति को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे यह समझाना चाहिए कि अदानवृत्ति का परिणाम नरक है, स्वर्ग तो यज्ञिय वृत्ति से ही बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

घर को स्वर्ग बनाना

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। सुक्षमा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च॥ २७॥

'हम इस संसार में किसी भी वस्तु को स्वीकार करें तो किस दृष्टिकोण से'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं १. हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा के दृष्टिकोण से, प्राणों की रक्षा की इच्छा से (छन्दः=अभिप्रायः) **परिगृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। (क) हम घर ऐसा बनाएँ जो प्राणशक्ति की वृद्धि के विचार से उत्तम हो, जिसमें सूर्य की किरणों का प्रवेश खूब होता हो, जहाँ वायु का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता हो। (ख) घर में उन्हीं खाद्य पदार्थों को जुटाएँ जो प्राणशक्ति के पोषक हों। (ग) उन्हीं क्रियाओं को करें जो प्राणशक्ति का ह्रास करनेवाली न हों। (घ) घरों में इस प्रकार से सत्सङ्ग आदि की व्यवस्था करें, जिससे सबकी मनोवृत्तियाँ उत्तम बनें और सभी लोग प्राणशक्ति-सम्पन्न बने रहें। २. **त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे त्रैष्टुभ छन्द से ग्रहण करता हूँ। इस इच्छा (छन्द) से ग्रहण करता हूँ कि मेरे त्रिविध तापों—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति (स्तुभ =to stop) हो।

अथवा मैं इस इच्छा से तेरा ग्रहण करता हूँ कि मेरे घर में **त्रि**=तीनों–प्रकृति, जीव व परमात्मा का **स्तुभ**=स्तवन चले, प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का विचार ठीक प्रकार से हो।

३. **त्वा जागतेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे जगती के हित की इच्छा से ग्रहण करता हूँ। प्रत्येक पदार्थ के ग्रहण में यह दृष्टिकोण बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि इस पदार्थ के ग्रहण से मैं लोकहित के लिए अधिक क्षम=समर्थ बन पाऊँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाए, जिससे मैं दीर्घजीवी बनकर देर तक लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगा रहूँ। ४. जब मेरा दृष्टिकोण 'गायत्र, त्रैष्टुभ व जागत' होगा तब मैं अपनी शाला=घर के विषय में कह सकूँगा कि (क) **सु-क्षमा च असि**=तू उत्तम निवास के योग्य है (क्षि निवास)। (ख) **शिवा चासि**=तू कल्याणरूप है, (ग) **स्योना च असि**=सुख देनेवाली है, (घ) **सुषदा च असि**=(सु+सद् =बैठना) सब लोगों के लिए उत्तमता से बैठने के योग्य है, (ङ) **ऊर्जस्वती च असि**=बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न है (ऊर्ज बलप्राणनयोः), (च) **पयस्वती च**=(ओप्यायी वृद्धौ) तू सब प्रकार से आप्यायन व वर्धन करनेवाली है।

भावार्थ–संसार में प्रत्येक क्रिया में हमारा दृष्टिकोण 'प्राणशक्ति की रक्षा, त्रिविधताप-निवृत्ति व लोकहित' हो। ऐसा होगा तो हमारे घर उत्तम निवास योग्य, मङ्गलमय, सुखद, लोगों से बैठने योग्य, बल-प्राणशक्ति-सम्पन्न व सब प्रकार से वर्धन के कारण होंगे।

सूचना–ऊक् का अर्थ रस लें और 'पयस्' का अर्थ दूध करें तो अर्थ होगा कि हमारे घर अन्न-रसों व दूध से भरपूर हों।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता–यज्ञः। छन्दः–विराड्ब्राह्मीपंक्तिः। स्वरः–पञ्चमः॥

प्रोक्षणी का आसादन–पृथिवी की चन्द्र में स्थिति, युद्धों से विरक्ति

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि॥ २८॥

हमें अपना जीवन इसलिए यज्ञमय बनाना चाहिए कि युद्ध दूर हो सकें। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि १. **क्रूरस्य**=(कृन्तति अङ्गानि) जिसमें अङ्गों का छेदन-भेदन होता है, उस क्रूरता से पूर्ण युद्ध के **विसृपः**=(वि+सृप्) विशेषरूप से फैल जाने से **पुरा**=पहले ही हे **विरप्शिन्**=(वि+रप्) विशेषरूप से ज्ञान का उपदेश करनेवाले (विरप्शिन् इति महत् नाम–निघ० ३।३) विशाल हृदय पुरुष! **अयम्**=यह तू इस **जीवदानुम्**=जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को देनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत् आदाय**=इस युद्ध से ऊपर उठाकर, अर्थात् युद्ध में न फँसने देकर **यामैः**=अपने प्रयत्नों से–विविध चेष्टाओं से **स्वधाभिः**=(स्वधा इति अन्ननाम–निघ० २।७) अन्नों की भरपूरता के द्वारा **चन्द्रमसि**=(चदि आह्लादे) प्रसन्नता में स्थापित कर। (चन्द्र=हिमांशु, सुधाकर, ओषधीश–Peace, pleasure and plenty)। चन्द्रमा शान्ति, सुख और भरपूरता का प्रतीक है। ज्ञान के उपदेष्टा को चाहिए कि वह इस पृथिवी को युद्धों में न फँसने देकर पूर्ण प्रयत्नों से शान्ति, सुख व भरपूरता में स्थापित करे। पृथिवी तो वस्तुतः अपने अन्नों से जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाली है। युद्धों के कारण स्थिति विषम हो जाती है और मँहगाई बढ़कर लोगों की परेशानी का कारण हो जाती है। २. इसलिए **धीरासः**=धीर, विद्वान् पुरुष **उ**=निश्चय से **ताम्**=शान्ति, सुख व समृद्धि-(peace, pleasure and plenty)-वाली पृथिवी को **अनुदिश्य**=लक्ष्य बनाकर **यजन्ते**=अपने जीवनों को यज्ञशील बनाते हैं। ये धीर पुरुष लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते

हैं। ये लोगों को ज्ञान के प्रकाश से प्रेम का पाठ पढ़ाकर उन्हें युद्धों से दूर रखते हैं। ३. वेद कहता है कि हे धीर पुरुष! तू **प्रोक्षणीः**=प्रकर्षेण ज्ञान का सेवन करनेवाली क्रियाओं को **आसादय**=ग्रहण कर। यज्ञिय चम्मच को तू पकड़। चम्मच से जैसे अग्नि में घी डाला जाता है, उसी प्रकार तू लोगों में ज्ञान की दीप्ति (घृत) का सेचन करनेवाला बन। तू **द्विषतः**=शत्रुओं का **वधः असि**=समाप्त करनेवाला है, द्वेष की भावनाओं को दूर करनेवाला है। तू अपनी ज्ञान की वर्षा से द्वेष की अग्नि को बुझाकर लोगों को प्रेम का पाठ पढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञानी लोग अपने जीवनों को यज्ञिय बनाकर लोगों को युद्धों से दूर रक्खें, उन्हें प्रेम का पाठ पढ़ाएँ, तभी यह पृथिवी चन्द्र में स्थित होगी—सुख, शान्ति व समृद्धि से पूर्ण होगी।

सूचना—'यामैरयँश्चन्द्रमसि' का सन्धि-छेद 'याम् ऐरयन् चन्द्रमसि' यह भी हो सकता है और तब अर्थ इस प्रकार होगा—**याम्** जिस पृथिवी को **चन्द्रमसि**=सुख, शान्ति व समृद्धि में **ऐरयन्**=प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'ऐरयन्' क्रिया का अध्याहार नहीं करना पड़ता।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्[क],[ख]। **स्वरः**—धैवतः॥

'सपत्नक्षित्' पति-पत्नी

[क] **प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।**
अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि।
[ख] **प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।**
अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि॥ २९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में **सपत्नक्षित्**=सपत्नों (शत्रुओं) का नाश करनेवाले पति-पत्नी का उल्लेख है। जब एक पुरुष की कई पत्नियाँ हों तो वे परस्पर सपत्नियाँ कहलाती हैं। कोई भी पत्नी सपत्नी को नहीं चाहती। इसी प्रकार यदि पत्नी एक से अधिक पतियों को करने लगे तो वे परस्पर 'सपत्न' होंगे और कोई भी पति इन सपत्नों को नहीं सह सकता। पत्नी को चाहिए कि सपत्नों को न होने दे और पति को चाहिए कि वह सपत्नियों को न होने दे। दोनों के लिए यहाँ समान शब्द प्रयुक्त हुआ है कि वे 'सपत्नक्षित्' बनें। २. पति के लिए कहते हैं कि (क) प्रयत्न करो कि **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातयः प्रत्युष्टाः**=अदान वृत्तियाँ एक-एक करके भस्म हो जाएँ, (ग) **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निः-तप्तम्**=तपोमय जीवन के द्वारा निश्चय से दूर कर दी जाएँ, (घ) **अरातयः**=ये अदान की वृत्तियाँ भी **निःतप्ताः**=निश्चय से तप के द्वारा सन्तप्त करके नष्ट कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशितः असि**=अपने व्यावहारिक जीवन में कभी तेज़ (निशित) नहीं होना। क्रोध के वशीभूत हो कभी तैश में नहीं आ जाना, पत्नी के साथ माधुर्य का ही व्यवहार रखना है। (च) **सपत्नक्षित्**=क्रोध व कटुता में आकर एक पत्नीव्रत का उल्लंघन नहीं करना। घर में सपत्नियों का प्रवेश न होने देना। (ज) **वाजिनं त्वा**=इस प्रकार संयत जीवन के द्वारा शक्तिशाली बने हुए तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर डालता हूँ। एक पत्नीव्रत से शक्ति का दीपन होता है।

३. इस प्रकार पति के लिए कहकर यही सारी बात पत्नी के लिए कहते हैं कि (क) **प्रत्युष्टं रक्षः**=तेरे राक्षसी भाव एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातयः**=अदान की वृत्तियाँ भी **प्रत्युष्टाः**=एक-एक करके नष्ट हों। (ग) **रक्षः**=राक्षसी भाव **निष्टप्तम्**=तप के द्वारा दूर कर दिये जाएँ, (घ) **अरातयः**=अदान वृत्तियाँ भी **निःतप्ताः**=निश्चय से सन्तप्त करके दूर कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशिता असि**=तू कभी तेज़ नहीं होती, क्रोध में नहीं आ जाती, (च) **सपत्नक्षित्**=तू पतिव्रतधर्म का पालन करते हुए पति के अतिरिक्त पुरुष को उसका सपत्न नहीं बनाती, (छ) **वाजिनीं त्वा**=एक पतिव्रतधर्म के पालन से संयमी जीवन के कारण शक्तिशालिनी तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध करता हूँ, तेरे जीवन को वासनाओं से रहित करता हूँ। वासनाशून्य जीवन ही तो शक्तिशाली होने से जीवन है। वासनाओं का शिकार हो जाना मृत्यु है।

भावार्थ—पति-पत्नी दोनों ही सपत्नक्षित् बनें, कभी तैश में न आएँ तभी घर स्वर्ग बनेगा।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

मे भव—मेरे बनो

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने मे भव यजुषेयजुषे॥ ३०॥

१. हे उन्नतिशील जीव! **अदित्यै**=अदिति के लिए—अखण्डन की देवता के लिए तू **रास्ना**=मेखला **असि**=है। 'अदिति' अखण्डन की देवता है, किसी भी अङ्ग व शक्ति का खण्डित न होना, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ होना। स्वास्थ्य के लिए मनुष्य का कटिबद्ध होना आवश्यक है। इस स्वास्थ्य पर ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये सब पुरुषार्थ निर्भर हैं। यास्काचार्य ने 'अदिति' का अर्थ 'अदीना देवमाता' किया है, अतः तू अदीनता व दिव्य गुणों के निर्माण के लिए कटिबद्ध है। तू निश्चय करता है कि (क) मैं स्वस्थ बनूँगा, (ख) अदीन बनूँगा, (ग) अपने में दिव्य गुणों के निर्माण का प्रयत्न करूँगा। २. अब स्वस्थ, अदीन व दिव्य जीवनवाला बनकर तू **विष्णवे**=यज्ञ का (यज्ञो वै विष्णुः) **वेष्पः**=अपने में व्यापन करनेवाला **असि**=बना है। तूने अपने में यज्ञिय भावना का पोषण किया है। इस यज्ञ के द्वारा ही तो तुझे यज्ञात्मक प्रभु का उपासन करना है। ३. **ऊर्जे त्वा**=मैं तुझे बल और शक्ति के लिए प्राप्त करता हूँ। ४. **अदब्धेन त्वा चक्षुषा अवपश्यामि**=मैं अहिंसित आँख से तुझे देखता हूँ (नक्ष् to look after)। मैं निरन्तर तेरा ध्यान करता हूँ। वस्तुतः जो भी व्यक्ति अध्यात्म उन्नति के मार्ग पर चलता हुआ लोकहित में प्रवृत्त होता है, प्रभु उसका ध्यान करते हैं **'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'**। ५. तू **अग्नेः**=उस सम्पूर्ण प्रकाश के अधिपति प्रभु की **जिह्वा असि**=जिह्वा=वाणी बना है। प्रभु के सन्देश को सर्वत्र फैलाना तेरा ध्येय है। **सु-हूः**=इस कार्य में तू अपनी उत्तम आहुति देनेवाला हुआ है, अर्थात् तू बड़ी मधुरता से प्रजाओं में प्रभु के सन्देश को पहुँचाने के कार्य में लगा है।

यह प्रभु का सन्देशवाहक अब प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **मे भव**=आप मेरे हो जाइए, अर्थात् मैं सदा आपका बनकर रहूँ, मैं प्रकृति में न फँस जाऊँ। **धाम्ने-धाम्ने**=मैं एक-एक शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ बनूँ। **यजुषे-यजुषे**=मैं प्रत्येक कर्म को यज्ञात्मक बना पाऊँ—मेरा प्रत्येक कर्म यज्ञरूप हो। मैं यज्ञ ही बन जाऊँ। **देवेभ्यः**=दिव्य

गुणों की प्राप्ति के लिए मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरे हों—मैं सदा आपका बना रहूँ। प्रभु को अपनाने से जहाँ हमारी शक्तियों में वृद्धि होती है वहाँ प्रत्येक कर्म यज्ञिय व पवित्र बनता है। प्रभु से दूर होने का परिणाम इससे विपरीत होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि प्रभु को अपना सकें। इससे हमारी शक्तियों की वृद्धि होगी और हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञमय बनेगा। हम अन्याय से अर्थ-सञ्चय की ओर नहीं झुकेंगे।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—जगती[क], अनुष्टुप्[ख]। **स्वरः**—निषादः[क], गान्धारः[ख]॥

अनाधृष्ट देवयजन—हवा-धूप

[क] सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। [ख]तेजोऽसि
शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥ ३१॥

१. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छिद्ररहित (gap से शून्य) अथवा निर्दोष वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से **त्वा**=तुझे **उत्पुनामि**=सब मलों व रोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) पवित्र करता हूँ। 'खुली हवा' और 'सूर्य की किरणें'—ये स्वास्थ्य के मूलमन्त्र हैं। २. तुझे ही क्यों? **वः**=तुम सबको **सवितुः प्रसवे**=उस उत्पादक प्रभु के इस जगत् में **उत्पुनामि**=सब मलों से ऊपर उठाकर पवित्र करता हूँ। (क) **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस निर्दोष वायु से और (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों द्वारा।

व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए समुदाय का स्वास्थ्य आवश्यक है। यदि मेरे चारों ओर के व्यक्ति अस्वस्थ होंगे तो उनके रोग-कृमियों का मुझपर भी आक्रमण होगा। मैं रोगों से बचा न रह सकूँगा। मैं स्वस्थ होऊँ, सब स्वस्थ हों, सारा वातावरण स्वास्थ्यमय हो।

३. इस स्वस्थ पुरुष को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **तेजो असि**=तू तेजस्वी है। स्वास्थ्य मनुष्य की तेजस्विता का कारण बनता ही है। ४. **शुक्रम् असि**=तू वीर्यवान् है। अथवा (शुक् गतौ) तू क्रियाशील है। ५. **अमृतम् असि**=तू अमृत है। तू रोगरूप मृत्युओं का शिकार नहीं होता। ६. **धाम असि**=तू तेज का पुञ्ज है, परन्तु साथ ही **नाम**=विनम्र स्वभाव है, तेरी शक्ति विनय से सुभूषित है। ७. इस प्रकार **देवानां प्रियम्**=देवताओं का प्रिय है। दिव्य गुणों का तू निवास-स्थान है। ८. **अनाधृष्टम्**=धर्षित न होनेवाला **देवयजनम् असि**=तू देवों के यज्ञ को करनेवाला है, अर्थात् तू निरन्तर देवयज्ञ करता है, तेरा अग्निहोत्र अविच्छिन्न रहता है। 'सब पदार्थों को ये देव ही तो तुझे प्राप्त कराते हैं' इस भावना को न भूलते हुए तू इन सब पदार्थों को देवों के लिए देकर सदा यज्ञशेष को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'अनाधृष्ट, देवयजन'—निरन्तर चलनेवाले अग्निहोत्रवाला हो। हम यह न भूलें कि 'देवऋण' से अनृण होने के लिए यह अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र है। इससे हम अत्यन्त वार्धक्य व मृत्यु होने पर ही मुक्त होंगे।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥